विश्व-प्रसिद्ध युद्ध

लेखकः राजेन्द्र कुमार 'राजीव'

पुस्तक महल®

खारी बावली, दिल्ली-110006

प्रकाशकीय

हमे गर्व है कि हमारे पाठको ने हमे अपने 'फैमिली प्रकाशक' होने का गौरव प्रदान किया है। इसी प्रोत्साहन के फलस्वरूप हम ऐसी पुस्तके छापने का साहस जुटा पा रहे हैं, जिनका भारतीय भाषाओ के साहित्य मे अभी तक अभाव रहा है। जहा हमने एक ओर 'गिनेस बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्ड्स,' 'जूनियर साइंस एनसाइक्लोपीडिया' तथा 'चिल्ड्रन्स लायब्रेरी ऑफ नॉलिज' जैसे विश्वस्तरीय ग्रन्थो का प्रकाशन किया है, वहीं दूसरी ओर बच्चो की रुचि विज्ञान जैसे नीरस समझे जाने वाले विषयो मे जगाने के लिए 'चिल्ड्रन्स नॉलिज बैंक' जैसी पुस्तके भी छापी है। भाषाए सिखाने की पुस्तको के सबध मे तो आप हमारी साख से परिचित है ही। 'रैपिडैक्स इगलिश स्पीकिंग कोर्स' आज दो करोड़ पाठको की पसंद बन चुका है।

विश्व-प्रसिद्ध शृखला मे प्रकाशित पुस्तको के माध्यम से हमारी चेष्टा रही है कि भारतीय मानस को अन्तर्राष्ट्रीय चेतना के साथ जोडा जाये। आपके हाथो में इस शृखला की चौथी पुस्तक है। इससे पूर्व 'विश्व-प्रसिद्ध खोजें,' 'विश्व-प्रसिद्ध रोमाचक कारनामे', तथा 'विश्व-प्रसिद्ध अनसुलझे रहस्य' – तीनो पुस्तके आपके द्वारा सराही जा चुकी है।

प्रस्तुत पुस्तक महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो एव लडाइयो का सकलन है। युद्ध कभी साम्राज्य विस्तार और सत्ता की भूख के लिए लडे गये तो कभी धार्मिक तथा वैचारिक वर्चस्व प्राप्ति के लिए। युद्धो ने जहा एक ओर विनाश और तबाही को जन्म दिया, वहीं दूसरी ओर वैज्ञानिक टेक्नालॉजी को भी विकसित होने मे मदद दी।

'विश्व-प्रसिद्ध युद्ध' तलवार से लेकर न्यूट्रॉन बम तक का लबा सफरनामा है। पुस्तक को कालक्रमानुसार (chronologically) दो अध्यायो में विभाजित किया गया है– अन्तर्राष्ट्रीय तथा भारतीय युद्ध और लडाइया। अपने पाठकों को सामयिक जानकारी देने के लिए आणविक युग के युद्धो को क्रमानुसार पहले रखा है तथा प्राचीन युद्धो को बाद मे। इससे इस विषय की प्रासंगिकता बढ़ जाती है तथा युद्ध की अत्याधुनिक तकनीक के बारे मे जानकारी मिलती है। पुस्तक को प्रामाणिक बनाने के लिए इसमे यथासभव आवश्यक नक्शे तथा ऐतिहासिक चित्र दिये गये हैं। इसे जहा एक ओर 'लाइट रीडिंग' के लिए पढा जा सकता है, वहां आवश्यकता पडने पर एक प्रामाणिक लघु ऐतिहासिक संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में भी प्रयोग मे लाया जा सकता है।

– प्रकाशक

अनुक्रम

ईरान-इराक युद्ध
(Iran-Iraq War)

काल : 22 सितम्बर, 1980 (अभी भी जारी), **स्थान** : ईरान-इराक (फारस की खाड़ी)

1979 मे ईरान के शाह रज़ा पहलवी के गद्दी छोड़कर भागने तथा धार्मिक नेता अयातुल्ला खुमैनी के आगमन से आंतरिक विघटन, सांप्रदायिकता तथा बिखराव ने जो माहौल बनाया, उससे ईरान मे गृहयुद्ध छिड़ने की अटकलें लगायी जाने लगीं। उधर, इराक ने भी इसे उपयुक्त अवसर समझा, जब वह ईरान से पुराना हिसाब बराबर कर सकता था। शत-अल-अरब नदी का सीमा-विवाद, शिया-सुन्नी के मज़हबी मतभेद, क्षेत्रीयता जैसे अनेक मुद्दे भी साथ ही साथ आ जुड़े और गृहयुद्ध की सम्भावनाएं ईरान-इराक युद्ध मे परिणत हो गयीं ....

ईरान-इराक युद्ध की पृष्ठभूमि मे मुख्य रूप से दो बाते खास हैं, जिन्हें आपसी वैमनस्य और तनाव का कारण माना जा सकता है। पहला कारण है—सीमा संबंधी विवाद तथा दूसरा धर्म संबंधी।

1971 मे ईरान ने संयुक्त अरब अमीरात से जिन द्वीपों को छीन कर अपने कब्जे में कर लिया था, उन द्वीपों पर इराक अपना अधिकार जताता और निरंतर उन पर अपने स्वामित्व का दावा करता आ रहा था। इसी तरह शत-अल-अरब (Shatt-al-Arab) जलडमरूमध्य (strait) पर 1913 के समझौते के तहत केवल इराक

का अधिकार था। बाद में 1937 में ईरान ने इस जलडमरूमध्य पर कुछ रियायतें प्राप्त कर ली थी किन्तु 1975 के अल्जीयर्स (Algiers) समझौते के अन्तर्गत इस पर ईरान-इराक, दोनों का समान अधिकार स्वीकार किया गया।

अब इराक का कहना है कि 1937 और 1975 के दोनों समझौतों को रद्द करके 1913 वाली स्थिति को फिर से बहाल किया जाये। यह जलडमरूमध्य इराक के लिए इतना महत्त्वपूर्ण इसलिए है, क्योंकि 'बसरा' नामक माल-बंदरगाह (commercial port) यहीं स्थित है। उधर, ईरान का दावा है कि इराक के पास फारस की खाडी का मात्र दो प्रतिशत हिस्सा है, अत: शत-अल-अरब जलडमरूमध्य पर उसका कोई अधिकार नहीं। इसी प्रकार ईरानी क्षेत्र में स्थित खुर्रम शहर (Khorramshahr) पर भी इराक अपना दावा पेश करता रहा है।

दूसरा धर्म सम्बन्धी कारण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसने इस युद्ध को साप्रदायिक रग दिया। कहा जाता है कि ईरान-इराक का वर्तमान युद्ध खास तौर से धर्म के मुद्दे को लेकर ही शुरू हुआ था। ईरान तथा इराक, दोनों देशों में शिया सप्रदाय के लोगो का बहुमत है। शिया लोगो का बहुमत होने के बावजूद इराक में शासन हमेशा सुन्नी लोगों के हाथ मे रहा, जबकि ईरान मे शिया सम्प्रदाय के लोगों का ही शासन है। इसके अलावा ईरान में कुछ फारसी और सुन्नी भी हैं, जिनका शासन मे कोई दखल नही है।

कुछ लोग मानते है कि ईरान-इराक युद्ध के आरम्भ होने और इतना लम्बा खिच जाने के पीछे दोनो देशों के प्रमुखों—इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन और ईरान के सर्वोच्च धार्मिक नेता तथा इस्लामी क्रांतिकारी परिषद् के अध्यक्ष अयातुल्ला खुमैनी के महत्त्वाकांक्षी व्यक्तित्वों का टकराव भी एक बड़ा कारण है।

1975 में भी ईरान-इराक मे एक छोटा-सा युद्ध हुआ था। तब सीरिया के सद्प्रयासों से सन्धि हो गयी किन्तु इस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करना इराक को काफी महगा पडा। चूकि सीरिया का झुकाव सदा ईरान की ओर रहा है, इसलिए सन्धि मे शत-अल-अरब जलडमरूमध्य का वह हिस्सा, जो ईरान-इराक के मध्य साझे मे था, अब ईरान के अधिकार मे मान लिया गया। इसके अलावा शाह-विरोधियों तथा क्रातिकारियों को संरक्षण व मदद न देने की बात भी सद्दाम हुसैन को माननी पड़ी थी।

युद्ध का प्रारम्भ

22 सितम्बर, 1980 को ईरान के खुर्रम शहर पर अचानक हमला कर इराक ने युद्ध की पहल की और उस पर अधिकार कर लिया। अहवाज़ (Ahwaz) और अबादान (Abadan) मे भी उसके सैनिक जा चढे। होर्मुज की खाडी तथा शत-अल-अरब पर उसने अधिकार कर लिया। एक सप्ताह में ही इराक ने समुद्री रास्ते की नाकेबदी करके ईरान के तेल-निर्यात को बन्द कर दिया।

अयातुल्ला खुमैनी

सद्दाम हुसैन

ईरान ने भी जवाबी कार्रवाई की और इराक की राजधानी बगदाद, बसरा व अन्य तेल उत्पादक नगरो व कारखानों पर भयकर बमबारी हुई। फलस्वरूप इराक को काफी हानि उठानी पड़ी। ईरान के सर्वोच्च धार्मिक नेता तथा इस्लामी क्रांतिकारी परिषद् के अध्यक्ष अयातुल्ला खुमैनी तथा वहा के राष्ट्रपति, प्रधानमत्री और अन्य नेताओ ने दुश्मन को अपनी भूमि से पूर्णत. खदेड़ देने का सकल्प लिया।

पडोसी देशो की दखलंदाजी से युद्ध और भी उग्र होता चला गया। लीबिया व सीरिया ने ईरान और जोर्डन, सऊदी अरब, ओमान तथा कुछ अन्य छोटे-छोटे देशो ने इराक का समर्थन किया। महत्त्वपूर्ण बात यह रही कि संसार की दोनो बडी शक्तियां, रूस और अमरीका मूक दर्शक बनी रहीं। यद्यपि इराक के पास सोवियत शस्त्रास्त्र थे और परम्परागत सम्बन्धों के कारण वह उसे नैतिक समर्थन भी दे रहा था किन्तु प्रत्यक्ष रूप से कोई भी सामने नहीं आया। अमरीका ने मध्य-पूर्व (Middle East) में बढते साम्यवाद (Communism) के वर्चस्व को कुचलने के लिए शाह रज़ा पहलवी के समय से ही ईरान को मोहरा बना रखा था और वह खरबो डालरों के अधुनातन शस्त्रास्त्र ईरान को देता रहा था। बदले में वह तेल प्राप्त करता था किन्तु अयातुल्ला खुमैनी के शासक बनने और अमरीका द्वारा शाह के समर्थन के कारण वहां अमरीका-विरोध की लहर फैल गयी।

प्रश्न यह है कि यह युद्ध हुआ क्यों? इस युद्ध से ईरान-इराक को क्या लाभ होने वाला है? विश्व की राजनीति पर इसका क्या प्रभाव पडेगा?

1975 में सीरिया की मध्यस्थता में हुए ईरान-इराक समझौते के अन्तर्गत ईरान ने इराक के सीमावर्ती क्षेत्रों में बसे कुर्दों को किसी प्रकार की सहायता न देने का वचन दिया था किन्तु ईरान में मजहबी आंधी के अगुवा खुमैनी ने, जो अपने को मुस्लिम जगत का सर्वोच्च धार्मिक नेता मानने लगे थे, इस वचन को तोड दिया तथा कुर्दों के साथ-साथ इराक के शिया निवासियों को भी आर्थिक सहायता व सैनिक प्रशिक्षण देकर उन्हें अपने ही देश के विरुद्ध भडकाया। इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन को काफिर (इस्लाम-विरोधी) की संज्ञा दी और उनके विरुद्ध की गयी अपनी कार्रवाइयों को धार्मिक आंदोलन बताया।

वर्तमान स्थिति

इस युद्ध के चलते रहने से विश्व की महाशक्तियों के बीच टकराव की स्थिति कभी भी उत्पन्न हो सकती है। अमरीका व उसके सहयोगी देशों के तेलवाहक जहाज होर्मुज जलमार्ग से होकर गुजरते हैं। ईरान कई बार इस जलमार्ग को बन्द करने की धमकी दे चुका है। यदि ईरान ने ऐसा किया तो अमरीका हस्तक्षेप कर सकता है। अमरीकी हस्तक्षेप होने पर सोवियत संघ भी चुप नहीं बैठेगा।

अब यह युद्ध उस स्थिति मे पहुच गया है, जब दोनों ही देश अर्थव्यवस्था और सामान्य जीवन के चरमरा जाने से युद्ध की भयावहता से ऊब गये हैं किन्तु यह प्रतिष्ठा का प्रश्न बन कर रह गया है कि आखिर युद्धविराम के लिए पहल कौन करे? शाह के समय मे जमा हो गये अमरीकी शस्त्र-भण्डार के खत्म हो जाने से ईरान के सैन्य-बल पर प्रभाव तो पडा है किन्तु वे सम्भावनाएं निर्मूल सिद्ध हुई हैं कि अमरीकी समर्थन के अभाव मे ईरान का पूरी तरह विनाश हो जायेगा। सिर्फ ईरान के अडियल रवैये से युद्धविराम के कार्य मे गतिरोध बना हुआ है। ईरान ने कभी युद्धविराम के लिए मध्यस्थता के प्रयासों को पसन्द नहीं किया क्योंकि वह इराक को इस बात के लिए सजा देना चाहता है कि वह युद्ध छेड़कर लाखों लोगो की मौत का कारण बना है। अमरीकी अनुमान के अनुसार अभी तक इस युद्ध मे 1,00,000 इराकी तथा 2,50,000 ईरानी मारे जा चुके हैं।

चूंकि ईरान-इराक दोनो देश गुट-निरपेक्ष आंदोलन मे जुड़े है और अधिकतर देश इनके मित्र हैं, उनके लिए पशोपेश की स्थिति बनी हुई है कि वे किसका समर्थन करें और किसका विरोध?

जहां तक सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रयासो का प्रश्न है खाडी के युद्ध को रोकने के लिए, ईरान अपनी इस जिद्द पर अड़ा हुआ है कि वह पहले इराक को आक्रमणकर्ता घोषित करे व उसकी आलोचना करे। तभी वह उसके प्रस्तावो पर विचार करेगा।

फॉकलैण्ड युद्ध
(Falkland War)

काल : 1982; स्थान : फॉकलैण्ड द्वीपसमूह

भौगोलिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से फॉकलैण्ड ब्रिटेन की अपेक्षा अर्जेण्टीना के काफी निकट है किन्तु ब्रिटेन उसे अपना उपनिवेश मानता है और वहां के तेल-भण्डारों से करोड़ों पौण्ड का मुनाफा कमाता है। दूसरी ओर, अर्जेण्टीना इन द्वीपसमूहों को अपना भू-भाग मानता है। यही पुराना विवाद 1982 में तब नये सिरे से उभरा, जब अर्जेण्टीना ने अपने सैनिक भेजकर फॉकलैण्ड द्वीपसमूहों पर अपना अधिकार जताया और ब्रिटेन ने जवाबी कार्रवाई करके उसे सबक सिखाना चाहा ....

फॉकलैण्ड द्वीपसमूह अर्जेण्टीना से 500 कि.मी. दूर दक्षिण अटलांटिक महासागर में स्थित है। इसमे लगभग 200 द्वीप हैं। पूर्वी और पश्चिमी फॉकलैण्ड इनमे सबसे बडे द्वीप है। पिछले लगभग 150 वर्षो से अर्जेण्टीना और ब्रिटेन के बीच इस द्वीपसमूह के स्वामित्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। अर्जेण्टीना कई अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो तथा सम्मेलनो में अपने स्वामित्व के दावे को लगातार दोहराता रहा है किन्तु फॉकलैण्ड द्वीपसमूह से 12,000 कि.मी. दूर स्थित ब्रिटेन इसे अपना उपनिवेश मानता है।
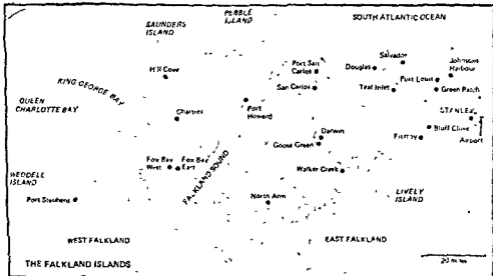
अर्जेण्टीना का दावा इसलिए तर्कसगत लगता है क्योंकि यह द्वीपसमूह भौगोलिक, सास्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अर्जेण्टीना के निकट है। हालांकि 2,000 की जनसख्या वाले इस द्वीपसमूह के 98 प्रतिशत लोगों को ब्रिटिश नागरिकता प्राप्त है, वे अपने को 'ब्रिटिश' न कहकर 'केल्पर' (Kelpers) कहते है। ब्रिटेन फॉकलैण्ड को इसलिए अपना उपनिवेश बनाये रखना चाहता है क्योंकि फॉकलैण्ड ऑयल कम्पनी तथा तेल और प्राकृतिक गैस के विपुल भण्डारों से उसे करोड़ों पौण्ड का मुनाफा मिलता है। जल-परिवहन के धंधे में लगी इस कम्पनी से पिछले 30 वर्षो के दौरान ब्रिटेन को एक करोड 20 लाख पौण्ड मुनाफे के रूप में मिले। इसमे 48 लाख पौण्ड की वह कर-राशि सम्मिलित नही है जो ब्रिटेन ने बतौर उपनिवेश फॉकलैण्ड से वसूली।

बात सिर्फ इतनी ही नही। 1976 मे लॉर्ड शैकेल्टन की अध्यक्षता मे गठित [illegible] जार्जिया [illegible] मौजूद [illegible] सकती है, जिनमे प्रोटीन का अश वहुत अधिक होता है। ब्रिटेन की दृष्टि इस भण्डार पर भी टिकी है।

इसके अलावा विवाद के राजनैतिक कारण भी हैं। 1805 में स्पेन ने फॉकलैण्ड स्थित किला और स्टेनली बदरगाह (Port Stanley) को ब्रिटेन के हवाले करते हुए एक समझौता किया था। स्पेनी शासन से जब फॉकलैण्ड मुक्त हुआ तो अर्जेण्टीना भी इस पर अपना दावा करते हुए विवाद मे शामिल हो गया और 1828 मे उसने अंग्रेजों को वहां से खदेड कर अपना गवर्नर नियुक्त कर दिया। 1833 मे ब्रिटेन ने अमरीका की मदद से पुन. इसे छीन लिया और 1892 मे अपना उपनिवेश घोषित कर दिया। तब से लेकर आज तक यह ब्रिटिश उपनिवेश है किन्तु अर्जेण्टीना बराबर अपना दावा करता रहा। उसने सयुक्त राष्ट्र सघ (United Nations), निर्गुट राष्ट्र सम्मेलन (Non-Aligned Movement), [illegible] क्या है। ब्रिटेन [illegible] अर्जेण्टीना इस द्वीपसमूह को लम्बी अवधि के लिए उसे 'लीज' पर दे दे। अर्जेण्टीना ने ब्रिटेन की इस बात को नकार दिया। अन्तत. आपसी खींचतान ने विवाद को युद्ध का रंग दे ही दिया।

युद्ध का प्रारम्भ

2 अप्रैल, 1982 को अर्जेण्टीना ने अपने 4000 नौ-सैनिकों की सहायता से फॉकलैण्ड और सेंट जार्जिया, आदि द्वीपों पर कब्जा कर लिया और ब्रिटिश गवर्नर रेक्स हण्ट को पोर्ट स्टेनली (Port Stanley) से बाहर कर दिया। ब्रिटिश

प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर के मंत्रिमडल की आपात्कालीन वैठक हुई और दूसरे ही दिन एच.एम.एस. इनविंसिबल (H.M.S. Invincible) नामक युद्धपोत के नेतृत्व में ब्रिटिश नौसेना पोर्टस्माउथ बंदरगाह के लिए रवाना हो गयी। विशाल ब्रिटिश नौसेना तथा वायुसेना के बमवर्षक विमानो ने फॉकलैण्ड स्थित अर्जेण्टीना के सैनिक ठिकानो पर हमला किया। प्रतिरोध में अर्जेण्टीना ने आणविक शस्त्रों से युक्त ब्रिटिश विध्वसक 'शेफील्ड' (Sheffield) को तारपीडो का निशाना बनाकर ध्वस्त कर दिया। अर्जेण्टीना का विशाल पोत 'जनरल बेलग्रानो' (General Belgrano) भी 368 नौसैनिको सहित डूब गया।

अन्तत मई के अन्त तक अर्जेण्टीना के जनरल गैलतियेरी के सामने स्पष्ट हो गया कि अधिक देर तक जारी रखने से यह युद्ध आणविक युद्ध मे परिवर्तित हो सकता है, जिसका प्रतिरोध करने की क्षमता उनके पास नहीं है। दूसरी ओर, अमरीका ने जनरल गैलतियेरी के साथ हुए वायदो को ताक पर रखकर ब्रिटेन का साथ दिया। आखिर विश्व मानचित्र पर ब्रिटेन एक महाशक्ति था और अर्जेण्टीना एक छोटा-सा देश। इसके साथ-साथ, अर्जेण्टीना की आर्थिक तथा आतरिक परिस्थितियां भी प्रतिकूल होने लगी और 14 जून को फॉकलैण्ड मे ब्रिटिश मेजर जनरल जे.जे. मूर के समक्ष अर्जेण्टीना के ब्रिगेडियर जनरल मारियो बेंजामिनो मेनेंदेज (Mario Benjamino Menendes) ने 11,845 सैनिकों सहित आत्म-समर्पण कर दिया। इस तरह 72 दिवसीय युद्ध समाप्त हुआ।

परिणाम

दोनों ही देशो को युद्ध के भयंकर परिणाम भुगतने पडे। इस युद्ध से ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन के विदेश मत्री लॉर्ड केरिंगटन को त्यागपत्र देना पडा और जनरल गैलतियेरी का भी यही हश्र हुआ। फॉकलैण्ड द्वीपसमूह पर ब्रिटेन का पुनः अधिकार हो गया किन्तु फॉकलैण्ड द्वीपसमूह के स्वामित्व का प्रश्न अनसुलझा ही रहा।

वियतनाम युद्ध
(Vietnam War)

काल : 1939 1945, स्थान : यूरोप, एशिया, अफ्रीका

भारत के दक्षिण-पूर्व में एक छोटा-सा देश है—वियतनाम सोशलिस्ट रिपब्लिक। 69 वर्षों तक फ्रांसीसी उपनिवेश रहने के बाद 1954 में जब यह मुक्त हुआ तो 22 वर्ष लम्बे एक युद्ध में उलझ गया। यूं तो इस युद्ध का आरम्भ इस देश का उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों में दो टुकड़े करने से गृहयुद्ध के रूप में हुआ किन्तु रूस और अमरीका के बीच में कूद पड़ने से यह एक महायुद्ध में परिणत हो गया....

सन् 1976 मे उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम को मिला कर आज का वियतनाम सोशलिस्ट रिपब्लिक एकीकृत राष्ट्र (unified country) बना। इससे पहले का लगभग 100 वर्षों का इसका इतिहास वास्तव मे युद्धों का इतिहास कहा जायेगा। इसका आरम्भ तब होता है जब 1867 मे कैथोलिक मिशनरियो (Catholic missionaries) को संरक्षण देने के बहाने फ्रांस यहां आया और उसने धीरे-धीरे 1885 तक पूरे देश को अपना उपनिवेश बना लिया। किन्ह (Kinh) कहे जाने वाले यहां के मूल वासियो ने तत्काल फ्रासीसी उपनिवेशवादियो का प्रतिरोध शुरू कर दिया।

1940 मे जापानियों ने वियतनाम पर आक्रमण कर दिया और फ्रासीसी उपनिवेश लगभग समाप्त हो गया किन्तु जापानी आधिपत्य अधिक दिनो तक कायम नही रह सका और 1946 मे जापानी आक्रमणकारियों को पराजित होकर वहा से भागना पडा। जापानियो की इस पराजय का सबसे बडा श्रेय हो ची मिन्ह (1892-1969) को जाता है। देश की मुक्ति के लिए उन्होने वियतमिन्ह (Vietminh) नामक राष्ट्रवादी गुरिल्ला सैनिक दस्तो का गठन किया। उन्होंने वियतनाम कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना भी की जो आज देश की शासक पार्टी है और बाद मे वह उत्तरी वियतनाम के राष्ट्राध्यक्ष भी बने।

जापानी आक्रमणकारी तो भाग गये किन्तु फ्रासीसी उपनिवेशवादियो ने देश के दक्षिणी हिस्से पर अपना आधिपत्य सुदृढ कर लिया। यही नहीं, फ्रांसीसियों ने उत्तरी हिस्से पर भी अपना आधिपत्य करने की कोशिश शुरू कर दी। उनकी यह कोशिश सफल नही हुई और वियतमिन्ह गुरिल्ला दस्तों ने 1954 मे दियेन बियेन फू (Dien Bien Phu) नामक स्थान पर उन्हे करारी हार दी।

अन्ततः जेनेवा मे दोनो पक्षों के बीच एक समझौता हुआ। इस समझौते के अन्तर्गत 17वे पैरेलल पर वियतनाम को उत्तरी और दक्षिणी, दो हिस्सो मे विभाजित करने का निर्णय लिया गया। उत्तरी वियतनाम मे हो ची मिन्ह के नेतृत्व में कम्युनिस्ट सरकार गठित हुई और दक्षिणी वियतनाम मे न्गो दिन्ह दियेम (Ngo Dinh Diem) के नेतृत्व मे राष्ट्रवादी सरकार। उत्तरी वियतनाम की सरकार देश को एकीकृत (unified) करने की हिमायती थी तो दक्षिणी वियतनाम की सरकार इसकी घोर विरोधी। जेनेवा समझौते के बाद फ्रासीसी सेनाए दक्षिणी वियतनाम से पूरी तरह वापस बुला ली गयी लेकिन उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम के शासको का वैचारिक मतभेद और विरोध बढता ही गया। यह विरोध इस कारण से भी अधिक तीव्र होता गया क्योंकि दक्षिणी वियतनामियो में ऐसे लोगो की संख्या काफी बडी थी जो देश के विभाजन के विरुद्ध रहे थे। इसके अलावा, दक्षिणी वियतनाम मे कम्युनिस्ट भी सक्रिय थे और उत्तरी वियतनाम के साथ उनकी स्वाभाविक सहानुभूति थी। वे दक्षिणी वियतनाम मे पश्चिमी ढंग की पूजीवादी व्यवस्था की स्थापना के विरोधी थे।

सैनिकों को रसद　　　　　　　　　　　　　　हो-ची-मिन्ह

दूसरी ओर, उत्तरी वियतनाम में कम्युनिस्ट शासन होने के कारण, उसे रूस और चीन का समर्थन प्राप्त था। दोनों ही देश उसे भारी आर्थिक तथा सैनिक सहायता दे रहे थे। उत्तरी वियतनाम ने दक्षिणी वियतनाम के कम्युनिस्टों द्वारा गठित सरकार विरोधी वियतकाग (Vietcong) गुरिल्ला दस्तों को सैनिक सहायता देनी शुरू कर दी। उत्तरी वियतनामी सेनाएं भी दक्षिणी वियतनाम की सीमाओं में घुसपैठ करती रहीं। दक्षिणी वियतनाम की दियेम सरकार के लिए इस स्थिति का सामना करना कठिन होता गया। इसलिए गुरिल्ला आक्रमण का मुकाबला करने और कम्युनिस्टों के विरोध को कुचलने के लिए दियेम को अमरीका के साथ 1961 में एक सन्धि करनी पड़ी, जिसके तहत अमरीका ने सैनिक सहायता दी। इस युद्ध में अमरीका की रुचि का एक कारण रूस के वर्चस्व को तोड़ना भी था। वह दक्षिणी वियतनाम में कम्युनिस्टों की सरकार नहीं बनने देना चाहता था। इसलिए उसने आर्थिक और सामरिक दृष्टि से दक्षिणी वियतनाम की खुलकर सहायता की किन्तु दो ही वर्ष बाद 1963 में दियेम के सहयोगियों ने ही दियेम की हत्या करके उसकी सत्ता को पलट दिया और 1967 में न्यूयन वान थियू (Nguyan Van Thieu) को दक्षिणी वियतनाम का राष्ट्राध्यक्ष बनाया गया। उसने दक्षिणी वियतनामी सरकार को कुछ सुव्यवस्थित रूप दिया किन्तु वियतकाग का दमन नहीं कर सका।

अमरीका ने युद्ध में सम्मिलित होने के बाद 1965 में दक्षिणी वियतनाम में उत्तरी वियतनाम के सैनिक दलों पर जवाबी हमला किया। 1968 तक 5,45,000 अमरीकी सैनिक वियतनाम पहुंच चुके थे और भारी संख्या में लगातार आ रहे थे। फिर भी वियतकांग की शक्ति को रोक पाना मुश्किल हो रहा था। इस स्थिति में अमरीका के लिए वियतकाग से समझौते की बातचीत करना ही सही था। यह तभी

हो सकता था जब उत्तरी वियतनाम की कम्युनिस्ट सरकार भी समझौते के लिए तैयार हो, क्योंकि वियतकांग को उसका भरपूर समर्थन प्राप्त था। फलत 1968 के प्रारम्भ में इस शर्त पर समझौते के लिए दोनों पक्ष तैयार हो गये कि यदि अमरीका युद्धबंदी की घोषणा कर दे तो समझौता हो सकता है। परिणामस्वरूप 10 मई, 1968 को पेरिस में उत्तरी वियतनाम और अमरीका मे समझौते के लिए बातचीत शुरू की गयी। बातचीत सफल नही हुई और युद्ध जारी रहा।

1969 में तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने युद्ध से अपने सैनिकों को हटाने की घोषणा कर दी और युद्ध की बागडोर दक्षिणी वियतनामी शक्तियों के सुपुर्द कर दी। अमरीकी सैनिको द्वारा अन्तिम रूप से वियतनाम छोडने के कुछेक महीनों बाद तक युद्ध कम्बोडिया तथा लाओस, इत्यादि पडोसी देशो तक फैल चुका था। अन्तत 27 जनवरी, 1973 को अनेक प्रयासों के बाद युद्धविराम की घोषणा कर दी गयी।

यद्यपि युद्धविराम की घोषणा कर दी गयी थी किन्तु 1975 मे अमरीकी सैनिको की दखलंदाजी ने फिर से युद्ध को लौ दी। विश्व के लगभग सभी देशो ने अमरीका के इस कदम की कडी निन्दा की। यहां तक कि अमरीकी ससद मे भी इस युद्ध का विरोध किया गया तथा अमरीकी लोगो ने वियतनाम की आजादी के समर्थन मे आवाजे बुलन्द की।

1975 के आरम्भ मे वियतनाम युद्ध ने एक निर्णायक मोड लिया। उत्तरी वियतनाम की फौजों तथा दक्षिणी वियतनाम के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे ने दक्षिणी वियतनामी सरकार की अमरीका समर्थित सेना को बुरी तरह नष्ट करना शुरू कर दिया। फलत. स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही वियतनामी सेना के भयकर युद्ध के सामने अप्रैल, 1975 से अमरीकी सैनिको ने वहा से भागना शुरू कर दिया।

अमरीकी सैनिको के जाने के बाद युद्ध समाप्त हो गया और दक्षिण वियतनाम मे एक अस्थायी क्रांतिकारी सरकार (Provisional Revolutionary Government) गठित की गयी। अप्रैल, 1976 में राष्ट्रीय स्तर पर आम चुनाव कराये गये और इसके फलस्वरूप जुलाई, 1976 मे उत्तरी और दक्षिणी हिस्सों को मिलाकर संयुक्त वियतनाम के गठन का निर्णय लिया गया।

परिणाम

इस युद्ध की समाप्ति के साथ ही विभाजित वियतनाम एक अखण्ड और स्वतन्त्र देश बना। इस युद्ध में 55,000 अमरीकियों सहित लाखों वियतनामी मारे गये और अपार क्षति हुई। इस युद्ध से यह भी सिद्ध हुआ कि वैचारिक मतभेद के कारण रूस और अमरीका कहीं भी शक्ति-परीक्षण कर सकते हैं। यही नहीं, दोनो देशों की ओर से अनेक नये रासायनिक तथा सामरिक महत्त्व के हथियार भी काम में लाये गये। इससे विश्व मे चल रहे मुक्ति-आंदोलनो को बल मिला।

अरब-इसरायल युद्ध
(Arab-Israel Wars)

काल . 1948 1973, स्थान : पश्चिमी एशिया

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद 14 मई, 1948 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने ब्रिटिश आधिपत्य के फिलिस्तीनी भू-क्षेत्र को दो हिस्सों में विभक्त करके यहूदियों तथा फिलिस्तीनियों के लिए अलग-अलग स्वदेशों के निर्माण का प्रस्ताव पारित किया किन्तु अरबों को यह बात रास नहीं आयी और उन्होंने नवोदित यहूदी राष्ट्र 'इसरायल' को समाप्त करने के लिए युद्ध छेड़ दिया। यह बात अलग है कि अमरीका द्वारा प्रदत्त आर्थिक तथा सामरिक सहायता से इसरायल ने न केवल फिलिस्तीनियों के प्रस्तावित स्वदेश-निर्माण वाले भू-क्षेत्र पर कब्जा कर लिया बल्कि उन्हें शरणार्थियों की तरह भटकने को विवश कर दिया...

विश्व के तीन प्रमुख धर्मों—ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म तथा यहूदी धर्म का जन्मस्थल पश्चिमी एशिया आज भी युद्ध के आतंक और तनाव से घिरा भू-क्षेत्र है। दरअसल अरबों (फिलिस्तीनी) तथा यहूदियों (इसरायली) के बीच इस सामरिक तनाव की गाथा लगभग 2,000 वर्ष पुरानी है, जब यहूदियों को उनकी मातृभूमि (जहां आज सीरिया, लेबनान, जोर्डन है) से भगा दिया गया था। जहां आज इसरायल है, पहले वह भू-क्षेत्र भी फिलिस्तीन कहलाता था। यहीं से पलायन करने के बाद निर्वासन की यंत्रणा झेलते यहूदी वर्षों तक दुनिया के कोने-कोने में भटकते रहे।
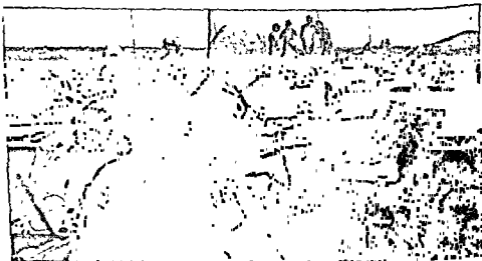
मोर्चे की ओर बढ़ते सैनिक

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इस गाथा ने तब मोड लिया, जब 1922 में 'राष्ट्र संघ' (League of Nations) ने 2 नवम्बर, 1917 की 'बालफर योजना' के अनुसार ब्रिटिश आधिपत्य के फिलिस्तीन और जोर्डन के क्षेत्रो में ही यहूदी राज्य की स्थापना पर अपनी सहमति व्यक्त की किन्तु कुछ अडचनों के कारण प्रस्ताव कार्यान्वित न हो सका।

द्वितीय विश्व-युद्ध के शुरू होते-होते यह प्रश्न फिर उठा। विवादास्पद पेलेस्टाइन में यहूदी आव्रजन (immigration) बढ़ता गया क्योंकि जर्मनी से भी हिटलर की तानाशाही के सताये यहूदी आ रहे थे। अत यहूदियो के लिए अलग स्वदेश-निर्माण की मांग फिर से जोर पकडने लगी। फलत: 14 मई, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने फिलिस्तीनी भू-क्षेत्र को दो हिस्सो में विभक्त कर दिया। इस तरह हुआ नये राष्ट्र 'इसरायल' का जन्म।
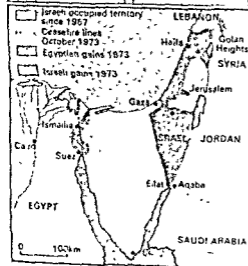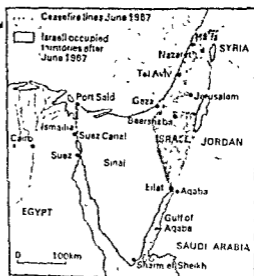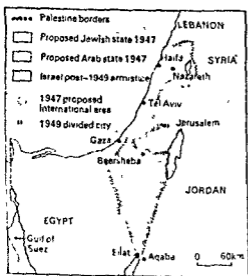
इसरायल के विदेश मंत्री मोशे दयान

युद्ध का प्रारम्भ

इसरायल के जन्म के साथ ही फिलिस्तीनियों को पड़ोसी देशों जोर्डन, लेवनान और सीरिया के रेगिस्तानी इलाको में तम्बुओं मे शरणार्थियों की तरह रहना पडा। उधर, विश्व के कई देशो से भाग कर जो यहूदी नवजात राष्ट्र इसरायल पहुच रहे थे, उनका हार्दिक स्वागत किया गया और उन्हे पूरा सरक्षण मिला। फिलिस्तीनियों के पलायन के साथ-साथ इसरायल ने अपने क्षेत्र का विस्तार भी जारी रखा। यही नही बल्कि अपनी स्थापना के साथ-साथ इसरायल ने अपने हिस्से से 40 प्रतिशत अधिक भाग पर कब्जा कर लिया था। फलत फिलिस्तीनियो और इसरायलियो के बीच युद्धो की अन्तहीन शृखला शुरू हो गयी। 1948 से लेकर 1973 के दौरान चार वडे युद्ध लडे गये।

प्रथम युद्ध (1948)

14 मई, 1948 को इसरायल की स्थापना के तुरन्त बाद ही अमरीका ने उसे समर्थन दे दिया। 15 मई, 1948 को मिस्र, इराक, जोर्डन, सीरिया व लेवनान की सयुक्त अरब सेना ने इसरायल पर धावा बोल दिया। ये सभी देश इसरायल के पास ही स्थित है। 7 जनवरी, 1949 को युद्धविराम लागू हो गया परन्तु तब तक इसरायल ने अपने क्षेत्र मे 50 प्रतिशत की वृद्धि कर ली थी।

द्वितीय युद्ध (1956)

1956 मे एक बार फिर अरवो और यहूदियों के बीच युद्ध की लपटें जली। 1956 में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण करके इसरायल के जहाजो पर पाबंदी लगा दी। इस राष्ट्रीयकरण का प्रभाव इग्लैड और फ्रास पर भी पडा। इसरायल ने इन दोनो देशों के सहयोग से अरबों के एक वडे क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। बाद मे अमरीका तथा सयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) के हस्तक्षेप से इसरायल ने तमाम विजित क्षेत्रों को लौटा दिया।

तृतीय युद्ध (1967)

सीरिया की सीमा से इसरायल पर कुछ हमले हो रहे थे। इसरायल ने 1967 में जवाबी कार्रवाई की धमकी दी। सीरिया ने मिस्र से सहायता मांगी, अतः मिस्र ने भी अपनी सेना की लामबंदी कर दी। इसरायल ने अपने ऊपर हमले की आशंका से 5 जून, 1967 को सीरिया, जोर्डन व मिस्र के सैनिक अड्डो पर अचानक हमला कर दिया। इस अचानक हमले से इन तीनो देशो की सुरक्षा-व्यवस्था चरमरा कर रह गयी तथा इसरायल ने मिस्र के तेल उत्पादक क्षेत्र सीनाई (Sinai), सीरिया की गोलान हाइट्स व जोर्डन के पश्चिमी तट पर अधिकार कर लिया। स्वेज नहर का पूर्वी तट भी उसके अधिकार मे आ गया। अरबों की करारी हार हुई।

चतुर्थ युद्ध (1973)

इसरायल ने अपने आधिपत्य के अरब प्रदेशों को वापस करने मे आनाकानी की। इससे क्षुब्ध होकर अरब देशों, मिस्र व सीरिया, ने 6 अक्तूबर, 1973 को यहूदी त्योहार 'योम किपर' (Yom Kippur) के दिन इसरायल पर आक्रमण कर दिया। इसलिए इसे 'योम किपर युद्ध' भी कहते है। मिस्र व सीरिया को प्रारम्भिक सफलता अवश्य मिली परन्तु वे 1967 में इसरायल द्वारा विजित प्रदेशो को वापस लेने में असफल रहे। अन्ततः 1974 में अमरीका के तत्कालीन विदेश मंत्री डॉ. हेनरी किसिंजर ने मिस्र, सीरिया, लेबनान, आदि अरब देशों का दौरा किया और अरब-यहूदियों में सन्धि-स्थापना के प्रयास किये। इन प्रयासो के फलस्वरूप ही युद्धों की यह शृंखला समाप्त हुई।

फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन (Palestine Liberation Organisation)

इस युद्ध मे 'फिलिस्तीनी मुक्ति सगठन' का जिक्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 1964 में सगठित इस मोर्चे का विशेष उद्देश्य फिलिस्तीनियो को उनका स्वदेश वापस दिलाना था। संगठन के अध्यक्ष यासर अराफात के नेतृत्व में फिलिस्तीन ने अपने स्वातन्त्र्य आदोलन को शुरू किया। हालांकि इसरायल के पास अमरीकी आर्थिक और सामरिक समर्थन था किन्तु अराफात के नेतृत्व में अरबों ने विशाल विश्व जनमत खडा कर लिया। तभी से यह प्रयास विश्वव्यापी बना कि फिलिस्तीनियों के लिए भी स्वदेश-निर्माण पर सक्रिय रूप से गौर किया जाये।

वर्तमान स्थिति

वैमनस्य और आपसी तनाव की छुटपुट लड़ाई अब भी जारी है, जो कभी भी युद्ध में परिणत हो सकती है। इसरायल के प्रश्न को लेकर अब अरब-देश विभाजित हो गये है। यद्यपि सभी चाहते है कि फिलिस्तीनियों को रहने के लिए उनका अपना भू-क्षेत्र होना चाहिए।

इसरायल के प्रति कैम्प डेविड समझौते (1979) के दौरान मिस्र का मैत्रीपूर्ण रवैया देखकर लीबिया, सीरिया, यमन व अल्जीरिया, आदि अरब-देश नाराज है। सबसे चिन्ताजनक बात यह है कि इराक, सऊदी अरब व लीबिया परमाणु बम बनाने का प्रयास कर रहे हैं। यदि कोई देश परमाणु बम बनाने में सफल हो जाता है तो पश्चिमी एशिया में स्थिति और भी विस्फोटक हो जायेगी।

द्वितीय विश्व-युद्ध
(Second World War)

काल 1939 1945, स्थान : यूरोप, एशिया, अफ्रीका

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद लगभग 20 वर्षों तक शांति रही किन्तु इस अंतराल में ये देश भीतर ही भीतर सुलगते रहे, जिन्हें वारसाई-संधि की कठोर शर्तों के कारण आहत और अपमानित होना पड़ा था। जर्मनी में हिटलर के आते ही जातीय श्रेष्ठता, स्वतंत्रता तथा सीमा-सुरक्षा जैसे अनेक सवाल खड़े हुए, जिनके फलस्वरूप न केवल जर्मनी में ही बल्कि इटली, आदि अनेक देशों में 'घोर राष्ट्रवाद' पनपने लगा। इसी से फासिज़्म अर्थात् नाज़ीवाद का उदय हुआ। वस्तुतः द्वितीय विश्व-युद्ध जातीय श्रेष्ठता, राष्ट्रवाद और प्रतिशोध के इन्हीं संदर्भों की कहानी है जिसके महाविनाश के स्मृतिचिह्न हैं—जापान के हीरोशिमा और नागासाकी की बरबादी के खंडहर और आणविक शस्त्रों के तले जन्म लेती विकलांग पीढ़ियां.....

प्रथम विश्व-युद्ध (1914-1918) की भांति द्वितीय विश्व-युद्ध भी यूरोप से शुरू हुआ और बाद में पूरे विश्व में फैल गया। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद हुई वारसाई-संधि (Treaty of Versailles) द्वारा बलात् थोपी गयी शर्तों से जर्मनी परेशान था। हिटलर के आते ही उसे नया बल मिला और उसके भीतर प्रतिशोध की ज्वाला तेज और हिंसक होती गयी। मंचूरिया पर आक्रमण से लेकर

चेकोस्लोवाकिया पर अधिकार करने तक पश्चिमी देशों ने जापान, इटली और जर्मनी के सभी आक्रमणो को मौन सहमति दी थी जिससे फासिस्ट देशों—जर्मनी, इटली की महत्त्वाकांक्षाएं वढती गयीं। वे नये सिरे से विश्व के पुनर्विभाजन की योजना बना रहे थे। इस प्रकार स्थापित साम्राज्यवादी शक्तियों ब्रिटेन, फ्रांस, आदि से उनका टकराव शुरू हो गया। ऑस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया को साथ मिला लेने के बाद हिटलर ने पोलैंड को आतंकित करना शुरू कर दिया। ब्रिटेन तथा फ्रास ने महसूस किया कि हिटलर के वुलंद इरादो की कोई सीमा नही है, इसीलिए मार्च, 1939 में उन्होंने पोलैंड के साथ एक सधि पर हस्ताक्षर किये तथा जर्मनी द्वारा आक्रमण करने पर उसकी सहायता करने का निश्चय किया। अगस्त, 1939 में जर्मनी और रूस के बीच एक-दूसरे पर आक्रमण न करने तथा तटस्थ रहने की संधि हुई।

युद्ध का प्रारम्भ

पोलैंड पर आक्रमण

जर्मन सेनाए 1 सितम्बर, 1939 को पोलैंड में घुस गयीं। अतएव ब्रिटेन और फ्रांस ने 3 सितम्बर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। पोलैड पर आक्रमण के साथ द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। पोलैंड को बाहर से सहायता न पहुंचने के कारण जर्मन सेनाओ ने उसे पूरी तरह से जीत लिया। युद्ध की घोषणा के वावजूद कई महीनो तक कोई विशेष युद्ध नहीं हुआ। इसलिए सितम्बर, 1939 और अप्रैल, 1940 के वीच के युद्ध को 'नकली युद्ध' की सज्ञा दी गयी।

नॉर्वे, डेनमार्क, हॉलैंड, बेल्जियम और फ्रांस पर विजय

जर्मनी ने 9 अप्रैल, 1940 को नॉर्वे और डेनमार्क पर हमला कर दिया। ब्रिटेन व फ्रास ने नॉर्वे की सहायता के लिए अपनी सेनाए भेजी परन्तु इन सेनाओं को वापस बुलाना पडा क्योंकि इनकी जरूरत फ्रास में थी। 10 जून, 1940 तक नॉर्वे का प्रतिरोध भी समाप्त हो गया और डेनमार्क ने विना किसी लडाई के आत्मसमर्पण कर दिया। वेल्जियम, लक्समबर्ग और हॉलैंड पर मई के आरम्भ मे आक्रमण हुआ और महीने के अन्त तक वे पूरी तरह जर्मनी के अधिकार मे आ गये। अव तुरन्त ही जर्मन सेनाएं फ्रांस में घुस गयी और 14 जून, 1940 को विना किसी खास युद्ध के जर्मनी ने पेरिस पर अधिकार कर लिया। इस बीच इटली भी अपने मित्र-देश जर्मनी की ओर से युद्ध में शामिल हो गया। फ्रास ने 22 जून, 1940 को आत्मसमर्पण कर दिया और उसने जर्मनी के साथ एक युद्धविराम-संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। फ्रास को विभाजित करके जर्मनी ने एक हिम्से को अपने आधिपत्य मे रखा और शेष भाग फ्रास की सरकार के अधीन रहा। वाइची (Vichy) को राजधानी वना दिया गया। फ्रास की पराजय होते ही जर्मनी यूरोपीय महाद्वीप की सवसे वड़ी शक्ति हो गया।

माल्टा कांफ्रेंस . (बायें से दायें) चर्चिल, रूजवेल्ट तथा स्टालिन

ब्रिटेन की लड़ाई

फ्रांस के पतन के बाद यूरोप में केवल ब्रिटेन ही प्रमुख शक्ति शेष रह गया था। इस पर भी आधिपत्य जमाने के लिए 1940 में जर्मन वायुसेना ने ब्रिटेन पर हमला कर दिया। प्रतिक्रिया में ब्रिटेन की वायुसेना ने बड़ी वीरता प्रदर्शित की। [illegible] के लिए जर्मनी के [illegible] नहीं किया जा [illegible] विचार त्याग दिया किन्तु जर्मनी बाल्कन प्रायद्वीप के देशों—यूनान, युगोस्लाविया, बुल्गारिया और उत्तरी अफ्रीका के काफी भागों पर अधिकार करने में सफल हो गया।

रूस पर आक्रमण

एक-दूसरे पर आक्रमण न करने के समझौते के बावजूद जर्मनी ने 22 जून, 1941 को रूस पर हमला कर दिया। हिटलर की दृष्टि हमेशा से रूस के विशाल क्षेत्रों और ससाधनो पर टिकी रहती थी। रूस इस आकस्मिक और अप्रत्याशित हमले से स्तब्ध रह गया। प्रारम्भ में जर्मनी को कुछ लाभ हुआ और रूस की सेनाओं को भारी क्षति उठानी पड़ी। स्टालिनग्राद (अब लेनिनग्राद) पर घेरा डाल दिया गया। दिसम्बर, 1941 तक जर्मन सेनाएं मास्को से कुछ ही कि.मी. की दूरी पर थी कि हिटलर का मास्को-विजय का सपना भग हो गया। 6 दिसम्बर, 1941 को सोवियत सैनिकों ने जवाबी कार्रवाई की व जर्मन सेना को मास्को के पश्चिम में 400 कि मी. पीछे खदेड़ दिया। इस लड़ाई में 3 लाख जर्मन सैनिक मारे गये।

द्वितीय मोर्चा

अन्य क्षेत्रो मे भी फासिस्ट देशों को हारना पडा। जापान हवाइ द्वीप पर कब्जा करने में असफल रहा। मई, 1943 मे 'मित्र राष्ट्रों' ने इटली की सेनाओं पर आक्रमण करके आत्मसमर्पण के लिए बाध्य कर दिया। इसमे पूर्व इटली मे मुसोलिनी की सत्ता को पलट कर नयी सरकार की स्थापना हो चुकी थी जिसने बिना शर्त आत्मसमर्पण करके 'मित्र-राष्ट्रों' को समर्थन दिया। 6 जून, 1944 को एक लाख मे भी अधिक ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक फ्रांस मे नॉर्मण्डी (Normandy) के समुद्रतट पर उतरे। युद्ध छिडने से पहले ही उत्तरी फ्रांस मे उन्होंने रेलवे और पुलो पर भारी बमबारी की ताकि जर्मनी की सेनाएं आसानी से आगे न बढ सके। इस मोर्चे ने जर्मनी को पराजय के कगार पर ला खड़ा किया।

3 सितम्बर को 'मित्र-राष्ट्रों' की सेनाओ ने बेल्जियम और हॉलैंड में प्रवेश किया। पूर्व से सोवियत सेना तथा पश्चिम से अन्य 'मित्र-राष्ट्रों' की सेनाएं बर्लिन मे घुसती जा रही थी। 24 अप्रैल, 1945 को एक भयकर लड़ाई के बाद रूसी सैनिको ने बर्लिन पर अधिकार कर लिया। 30 अप्रैल को हिटलर ने अपने भूमिगत किले मे आत्महत्या कर ली और मई के प्रारम्भ मे ही जर्मन सेनाओं ने आत्मसमर्पण करना शुरू कर दिया। अन्तत 8 मई, 1945 को जर्मनी ने संपूर्ण आत्मसमर्पण कर दिया।

जापान का आत्मसमर्पण

जर्मनी की पराजय के बाद भी एशिया मे तीन महीने तक युद्ध जारी रहा क्योंकि जापान के पास अभी भी एक विशाल सेना थी। तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति हैरी एस. ट्रूमैन (Harry S. Truman) ने महसूस किया कि जापान-विजय के लिए लाखो लोगो की जिंदगी की बजाय क्यो न 'परमाणु बम' का प्रयोग करके युद्ध को शीघ्र ही समाप्त कर दिया जाये। 6 अगस्त, 1945 को
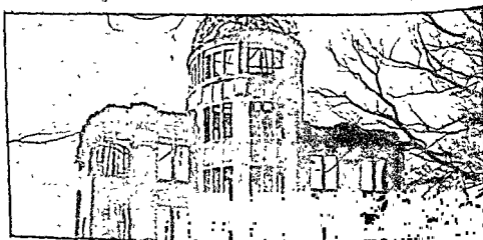
परमाणु बम गुबद: 6

अमरीका ने जापान के हीरोशिमा तथा 9 अगस्त को नागासाकी पर परमाणु बम गिराया। दोनों शहर तहस-नहस हो गये, जिसमें 1,20,000 से अधिक लोग मरे। अन्ततः जापान ने 14 अगस्त को आत्मसमर्पण कर दिया और इसके बाद द्वितीय विश्व-युद्ध समाप्त हो गया।

परिणाम

द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर विश्व-मानचित्र पर दो नयी महाशक्तियों का उदय हुआ—सोवियत संघ व अमरीका। युद्ध के दौरान इन देशों द्वारा निभायी गयी भूमिका के आधार पर इन्हे यूरोप के प्रमुख देशो ब्रिटेन, फ्रांस पर प्रभुता प्राप्त हो गयी। दूसरे, इन दोनों देशो के पास सैन्य-शक्ति के अतिरिक्त प्राकृतिक संसाधन भी विपुल थे। ब्रिटेन, फ्रास की आर्थिक दशा बिलकुल चरमरा गयी थी। यही हाल दूसरे यूरोपीय देशों का था। सोवियत संघ और अमरीका ने यूरोप के कई देशों को पुनर्निर्माण के लिए आर्थिक सहायता दी। इस आर्थिक सहायता के साथ-साथ रूस और अमरीका ने अपनी राजनैतिक विचारधाराओं का भी प्रचार-प्रसार किया। रूस ने साम्यवाद का तो अमरीका ने पूंजीवाद का। दोनों महाशक्तियों ने विश्व को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र (Places of influence) में विभाजित कर दिया जिसके कारण शीत युद्ध (cold war) आरम्भ हुआ।

युद्ध में हुई अपार क्षति के कारण ब्रिटेन व फ्रास, आदि साम्राज्यवादी देश कमजोर पड चुके थे। विश्व के दूर-दराज के हिस्सों में फैले उपनिवेशों को स्वतन्त्र राष्ट्र बना दिया गया और इस तरह उपनिवेशवाद का अन्त हुआ।

द्वितीय विश्व-युद्ध मे 5 करोड़ से भी अधिक लोग मरे। उनमें लगभग 2 करोड 20 लाख से अधिक लोग असैनिक (civilian) थे। लगभग एक करोड़ 20 लाख लोगों को यंत्रणा-शिविरो मे या फासिस्टों के आतंकों के फलस्वरूप अपनी जानें गंवानी पडीं। मानवीय क्षति के अतिरिक्त अनेक देशों की अर्थव्यवस्था और भौतिक ससाधनों की बुरी तरह तबाही हुई।

अनेक नये हथियारों का आविष्कार किया गया और उनका प्रयोग हुआ। परमाणु बम का आविष्कार तथा प्रयोग सबसे पहले अमरीका द्वारा इसी युद्ध में हुआ। अपनी सुरक्षा की चिंता और विश्व की महाशक्ति बनने की इच्छा से कई देशों मे परमाणु बम बनाने की होड़ मच गयी। हथियारों की होड़ (arms race) भी इसी युद्ध के फलस्वरूप आरम्भ हुई।

युद्ध की समाप्ति पर विजयी राष्ट्रों ने जर्मनी का बंटवारा कर लिया। पूर्वी जर्मनी सोवियत रूस के अधिकार में और पश्चिमी जर्मनी अमरीका तथा [illegible] के अधिकार में तथा कुछ भाग फ्रांस के हिस्से में आया। इटली की सेना [illegible] और बड़े राष्ट्रों ने उसके कुछ उपनिवेश ले लिये, जिनका शासन [illegible] लगे।

प्रथम विश्व-युद्ध
(First World War)

वक्त : 1914 1918, स्थान : यूरोप

यूं तो इस युद्ध का आरम्भ एक सर्बियावासी राष्ट्रवादी (Serbian nationalist) द्वारा ऑस्ट्रिया के राजकुमार आर्कड्यूक फ्रैंज फर्डिनेंड (Archduke Franz Ferdinand) की हत्या से हुआ किन्तु इसके मूल में यूरोप के देशों के बीच पिछले पचास वर्षों से लगातार चली आ रही शक्ति प्रतिद्वंद्विता (power rivalries) थी। मुख्य प्रतिद्वंद्वी थे—ऑस्ट्रिया-हंगरी एवं जर्मन तथा रूस, फ्रांस और ब्रिटेन। ऑस्ट्रिया-हंगरी तथा जर्मनी को यूरोप की 'केंद्रीय शक्तियां' (Central powers) और रूस, फ्रांस एवं ब्रिटेन को 'मित्र राष्ट्र' (The Allies) कहा जाता था। युद्ध तब और भयानक हो गया जब 1914 में तुर्की एवं 1915 में बुल्गारिया केंद्रीय शक्तियों के साथ तथा इटली मित्र राष्ट्रों के साथ आ मिला। बाद में जापान और सबसे अन्त में अमरीका (1917) भी मित्र राष्ट्रों के साथ शामिल हो गया.....

उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति (industrial revolution) से यूरोप के उन्नत देशों के बीच उपनिवेश स्थापित करने की होड मच गयी। प्रत्येक देश कच्चा माल प्राप्त करने तथा निर्मित माल को बेचने के लिए अधिक से अधिक मंडिया स्थापित करना चाहता था। अत: उपनिवेशवादी प्रतिस्पर्द्धा (colonial race) का बढ़ना बिलकुल स्वाभाविक था। इस प्रतिस्पर्द्धा

मे शामिल ब्रिटेन, फ्रास, जर्मनी, स्पेन, पुर्तगाल, रूस, इटली, आदि देश विभिन्न देशो की राजनैतिक सत्ता हथियाते जा रहे थे। उनके बीच आपसी वैमनस्य, टकराव और तनाव की स्थिति इन्हीं कारणों से बनी हुई थी।

दूसरे, 1870 के फ्रांस-प्रशिया युद्ध (Franco-Prussian War) मे जर्मनी ने फ्रांस को न केवल बुरी तरह से पराजित किया था बल्कि लोहे की खानो से सपन्न आलसेस (Alsace) और लॉरेन (Lorraine) नामक उसके दो प्रातो पर आधिपत्य भी जमा लिया था। फ्रास इस अपमान का बदला लेने के लिए भीतर ही भीतर सुलग रहा था तथा किसी भी तरह इन दोनों प्रांतो को पुन प्राप्त करना चाहता था।

साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिशोध के अलावा आर्थिक होड़ (economic competition), खेमेबाजी (blocs), अंध राष्ट्रवादी भावनाओ (chauvinism) की वृद्धि, सैन्यीकरण (militarization), इत्यादि के कारण यूरोप के देश शक्ति खेमों (power blocs) मे बंट गये।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यूरोप के देशों के बीच कटुता इस हद तक बढ चुकी थी कि कभी भी उनके बीच युद्ध शुरू हो सकता था। युद्ध छेडने का बहाना ऑस्ट्रिया को तब मिल गया जब वहा के राजकुमार आर्कड्यूक फ्रैंज़ फर्डिनैंड की हत्या एक सर्बियावासी राष्ट्रवादी ने कर दी। 28 जून, 1914 को हत्या हुई और लगभग एक महीने तक परस्पर दोषारोपण के बाद ऑस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। धीरे-धीरे दोनों खेमो के समर्थक देश भी युद्ध मे कूद पडे। कुल मिलाकर 16 देशों ने इस युद्ध मे हिस्सा लिया। एक ओर केंद्रीय शक्ति के देश (ऑस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी, तुर्की, बुल्गारिया) थे और दूसरी ओर मित्र राष्ट्र के देश (रूस, अमरीका, फ्रांस, ब्रिटेन, सर्बिया और जापान)।

28 जुलाई, 1914 को ऑस्ट्रिया द्वारा सर्बिया के विरूद्ध युद्ध छेड देने पर रूस ने सर्बिया को पूर्ण समर्थन दिया। जर्मनी ऑस्ट्रिया का पक्षधर था। लडाई एक व्यापक पैमाने पर प्रारम्भ हुई। जर्मनी ने 1 अगस्त को रूस तथा 3 अगस्त को फ्रांस के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। उधर, 4 अगस्त को ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की, जब जर्मन सैनिक बेल्जियम मे प्रवेश कर रहे थे।

जर्मनी को आशा थी कि बेल्जियम होकर वह एकाएक फ्रांस पर आक्रमण कर उसे कुछ सप्ताह में ही पराजित कर देगा और उसके बाद रूस को देख लेगा। कुछ समय तक यह योजना सफल होती दीख पड़ी क्योंकि जर्मन सैनिक फ्रास की राजधानी पेरिस से केवल 20 किलोमीटर दूर ही रह गये थे किन्तु रूस का आक्रमण रोकने के लिए जर्मन सैनिकों को पूर्वी मोर्चे पर जाना पड़ा। इसलिए युद्ध में गतिरोध आ गया।
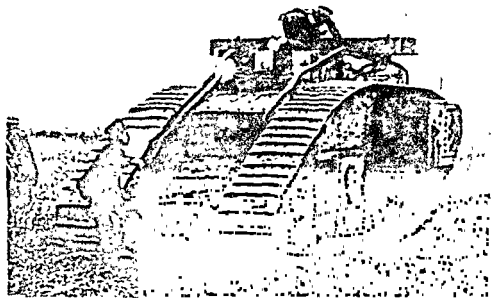
अंग्रेजों द्वारा टैंकों का सर्वप्रथम प्रयोग

जर्मन सैनिको का पश्चिमी युद्ध-क्षेत्र मे आगे बढ़ना रोक दिये जाने के बाद एक नये प्रकार का युद्ध आरम्भ हुआ। युद्धरत सेनाओं ने खाइया खोदी, जिनकी मदद से वे एक-दूसरे पर धावा बोलने लगी। इससे पहले सेनाए खुले मैदान मे लडती थी। मशीनगनों तथा वायुयानों का प्रयोग किया गया। अंग्रेजो ने पहली बार टैंक का प्रयोग किया। एक-दूसरे के खाद्यान्न, हथियारो तथा रसद को रोकने में समुद्री युद्ध की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। जर्मनी ने "यू-बोट्स" (U-boats) नामक पनडुब्बियों का प्रयोग न केवल युद्ध मे बल्कि ब्रिटिश बंदरगाहो की ओर जा रहे अन्य देशो के माल-जहाजों को नष्ट करने के लिए भी किया।

संयुक्त राष्ट्र अमरीका युद्ध से अलग रहते हुए यूरोपीय मामलो मे दखल नही देने की नीति पर चल रहा था परन्तु जर्मन पनडुब्बिया अटलांटिक महासागर मे तटस्थ अमरीका के पोतों को भी विनष्ट कर रही थी। इसलिए 6 अप्रैल, 1917 को जर्मनी के विरुद्ध वह भी युद्ध मे शरीक हो गया। अमरीका त्रिदेशीय सन्धि (Tripartite Treaty) मे शामिल देशो के लिए हथियारो और अन्य आवश्यक वस्तुओं का मुख्य स्रोत बन गया।

दिसम्बर, 1917 मे युद्ध की स्थिति में एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। रूस में कम्युनिस्टों के नेतृत्व मे क्रांति हो गयी और वहा जार-शासन के समाप्त होते ही युद्ध से अलग होने की घोषणा कर दी गयी। क्रांति के बाद रूस मे सत्ता मे आयी बोल्शेविक पार्टी (Bolshevik Party) की सरकार ने जर्मनी के साथ युद्धविराम संबधी समझौता कर लिया।

विश्व-युद्ध का अन्त

जब युद्ध जोर-शोर से चल ही रहा था कि कई देशों द्वारा शांति के प्रयास भी किये गये किन्तु सभी प्रयास असफल रहे। जनवरी, 1918 में अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson, 1856-1924) ने एक शांति-कार्यक्रम का प्रस्ताव रखा जिसमें देशों के बीच खुले तौर पर बातचीत करना, जहाजरानी की स्वतन्त्रता, शस्त्रास्त्रों में कटौती, बेल्जियम की स्वतन्त्रता, फ्रांस को आलसेस-लॉरेन वापस करना, सभी राज्यों की स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना, आदि बातें शामिल थी। युद्ध की समाप्ति पर इनमें से कुछ बातें मान ली गयीं।

ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने जुलाई, 1918 मे सयुक्त सैनिक अभियान आरम्भ किया। जर्मनी और उसके मित्र देश परास्त होने लगे। सितम्बर मे बुलगारिया युद्ध से अलग हो गया और अक्तूबर में तुर्की ने आत्मसमर्पण कर दिया। ऑस्ट्रिया-हगरी के सम्राट ने 3 नवम्बर, 1918 को आत्मसमर्पण कर दिया। जर्मनी में क्रांति हो गयी और वहां गणतन्त्र स्थापित हुआ। नयी जर्मन सरकार ने 11 नवम्बर, 1918 को युद्धविराम-सन्धि पर हस्ताक्षर किये और इस प्रकार युद्ध समाप्त हो गया।

शांति सन्धियां

जनवरी से जून, 1919 तक विजेता शक्तियों या 'मित्र राष्ट्रों' की बैठकें फ्रांस में पहले वारसाई (Versailles) और फिर पेरिस मे हुई। इस सम्मेलन में यूं तो 27 देशों के प्रतिनिधियो ने भाग लिया परन्तु शाति-सन्धियों की शर्तें मुख्य रूप से ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका के प्रतिनिधियो ने ही तय कीं। 28 जून, 1919 को इस सन्धि पर ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमत्री लॉयड जॉर्ज (Lloyd George), तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन तथा तत्कालीन फ्रांसीसी प्रधानमंत्री क्लीमेंस्यू (Clemenceau) ने हस्ताक्षर किये। पराजित देशो के प्रतिनिधियों ने बैठक मे भाग नही लिया। विजयी शक्तियो ने रूस को भी सम्मेलन से अलग रखा। एक तरह से विजयी देशो द्वारा पराजित देशों पर सन्धियो की शर्ते लादी गयीं।

सन्धि मे जर्मनी और उसके सहयोगी देशों को आक्रमण के लिए दोषी ठहराया गया। आल्सेस तथा लॉरेन फ्रांस को लौटा दिये गये। जर्मनी में स्थित 'सार' नामक कोयले की खानें 15 वर्षो के लिए फ्रांस को दे दी गयी, जिनका दायित्व राष्ट्र संघ (League of Nations) को सौप दिया गया। जर्मनी अपने युद्धपूर्व के कुछ भाग डेनमार्क, बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को देने के लिए मजबूर हो गया। उसकी सैनिक सख्या सीमित कर दी गयी और उससे वायुसेना तथा पनडुब्बियों के रखने के अधिकार छीन लिये गये। उसके उपनिवेश टोगो और कैमेरून ब्रिटेन और फ्रास ने बांट लिये। युद्ध के दौरान हुई क्षति के लिए जर्मनी से 6 अरब, 60 करोड पौंड की राशि बतौर हर्जाना देने के लिए कहा गया।

युद्ध में जर्मनी का साथ देने वाले देशों के साथ पृथक-पृथक सन्धियां हुई। ऑस्ट्रिया-हंगरी को विभाजित कर दिया गया। ऑस्ट्रिया को हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया और पोलैंड की स्वाधीनता को मान्यता देने के लिए कहा गया। बाल्कन प्रायद्वीप में अनेक परिवर्तन किये गये। वहां नये राज्यों की स्थापना की गयी।

फिलिस्तीन और मेसोपोटामिया ब्रिटेन को दिये गये तथा सीरिया फ्रांस को मिला। तुर्की के शेष अधिकांश क्षेत्र यूनान और इटली को दे दिये गये। इस तरह तुर्की को एक छोटा-सा राज्य बना दिया गया।

इन शांति-सन्धियों का मुख्य अंग था—'राष्ट्र संघ' की 1920 में स्थापना। इसका मुख्यालय जेनेवा में रखा गया। अमरीका इस संघ का सदस्य नहीं बन सका क्योंकि तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की इच्छा के बावजूद अमरीकी संसद ने वारसाई की सन्धि को स्वीकृति नहीं दी।

परिणाम

युद्धों के इतिहास में अब तक इससे अधिक जन-धन की क्षति और किसी युद्ध में नहीं हुई थी। इसमें भाग लेने वाले दोनों पक्षों के साढ़े छह करोड़ सैनिकों में से एक करोड़ तीस लाख सैनिक मारे गये। दो करोड़ बीस लाख सैनिक घायल हुए। घायलों में से सत्तर लाख व्यक्ति बिलकुल पंगु हो गये। इस भीषण संहार के अतिरिक्त आक्रमणों, हत्याकांडों, भुखमरी और महामारी में मरने वाली असैनिक जनता (Civil population) की संख्या का सही अनुमान लगाना संभव नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से भी यह बड़ा खर्चीला और विनाशकारी था। मित्र राष्ट्रों ने तथा जर्मनी और सहयोगी देशों ने युद्ध के संचालन में 1 खरब, 86 अरब डालर की धनराशि व्यय की थी। यदि इसमें जल-थल में हुई संपत्ति की हानि की मात्रा जोड़ दी जाये, तो इसका वास्तविक व्यय 2 खरब 70 अरब डालर था।

शस्त्रास्त्र तकनीक की दृष्टि से यह युद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें टैंकों, मशीनगनों, वायुयानों तथा विशेष रूप से निर्मित पनडुब्बियों का पहली बार प्रयोग हुआ। जहरीली गैसों का भी प्रयोग हुआ।

इस युद्ध के कारण कई सामाजिक परिवर्तन भी हुए। रूस और जर्मनी में अलग-अलग प्रकार की क्रांतियां हुईं। ब्रिटेन में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का आरम्भ हुआ जिसे बाद में कई देशों ने अपना लिया। महिलाएं पहली बार काम करने के लिए कारखानों तथा कार्यालयों में गयी क्योंकि पुरुष युद्ध के मोर्चों पर थे। इस कारण बाद में नारी मुक्ति आंदोलन की शुरुआत हुई।

बाल्कन युद्ध

(Balkan Wars)

काल : 1912-13, स्थान : बाल्कन प्रदेश (दक्षिण पूर्वी यूरोप)

दक्षिण पूर्वी यूरोप के बाल्कन प्रायद्वीप (Balkan Peninsula) के देश तुर्क साम्राज्य की यातनापूर्ण पराधीनता से मुक्त होना चाहते थे। इसलिए 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे तुर्क साम्राज्य की बिखरती शक्ति को देखकर उन्होने तुर्की को परास्त कर स्वयं को स्वतन्त्र देश घोषित कर दिया। अभी विजय का रोमांच समाप्त भी न हुआ था कि ये विजित प्रदेशों के विभाजन के सवाल को लेकर आपस में लड़ पड़े ....

डैन्यूब नदी (River Danube) के दक्षिण तथा यूरोप के दक्षिण-पूर्व मे स्थित बाल्कन प्रायद्वीप के अतर्गत छह देश आते हैं—अल्बानिया, बुल्गारिया, यूनान, रूमानिया, तुर्की तथा यूगोस्लाविया। सैकड़ों वर्षो तक बाल्कन देशो पर तुर्क साम्राज्य का शासन रहा। 1912 में तुर्की की निर्बलता तथा आंतरिक झगड़ों से लाभ उठाकर बाल्कन राज्यों ने एक-गुप्त समझौता किया। दरअसल ये राज्य एकजुट होकर युद्ध करके तुर्क साम्राज्य की पराधीनता के चंगुल से मुक्त होना चाहते थे। यह भी तय हो गया कि मैसीडोनिया (Macedonia) तथा अन्य विजित प्रदेशो को कैसे बाटा जायेगा। इस मत्रणा के पीछे मुख्य रूप से रूस का हाथ था, जिसके सबल को पाकर बाल्कन राज्यो ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

प्रथम युद्ध

बाल्कन का प्रथम युद्ध बाल्कन राज्यों और तुर्की के बीच 1912 मे हुआ। इसमे बाल्कन राज्यो को असाधारण सफलता प्राप्त हुई तथा तुर्क सेना पराजित हुई। एड्रियानोपल (Adrianople) का महत्त्वपूर्ण दुर्ग तुर्कों के हाथ से निकल गया। ग्रीक सेनाओ ने उस पर अधिकार कर लिया। सर्बिया और मांटीनिग्रो (Montenegro) ने अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। बुल्गारिया आक्रमण करते कास्टेंटिनोपल (Constantinople) के बहुत निकट तक पहुंच गया। इस स्थिति मे तुर्की के सामने सन्धि के अलावा अन्य कोई मार्ग न था। सन्धि के लिए दोनों पक्षो के प्रतिनिधि लदन मे एकत्रित हुए किन्तु स्थायी सन्धि करना सुगम न था। बाल्कन राज्यों की मांगे बहुत अधिक थी। यदि वे सभी मांगे स्वीकृत कर ली जाती तो तुर्की यूरोप से पूर्णतया बहिष्कृत हो जाता। तरूण तुर्क दल के नेता यह कब सहन कर सकते थे। कान्फ्रेंस भंग हो गयी और दुबारा युद्ध आरम्भ हो गया।

लंदन की सन्धि

इस बार तुर्क और भी बुरी तरह पराजित हुए। तुर्की के सुलतान ने निराश होकर फिर सन्धि का प्रस्ताव रखा। 30 मई, 1913 को दोनो पक्षों के प्रतिनिधि फिर लदन मे एकत्रित हुए। सन्धि की शर्ते निम्नलिखित थी·

1. तुर्की के अधीन जितने भी यूरोपीय देश थे, उन्हे स्वतन्त्र करना होगा; (कास्टेटिनोपल तथा उसके समीप के कुछ प्रदेश ही तुर्की के अधीन रहे। काला सागर में मीडिया नामक स्थान से लेकर एजियन सागर (Aegean Sea) के तट पर विद्यमान एनस बदरगाह तक एक रेखा निश्चित की गयी, जो कि तुर्की की पश्चिमी सीमा निर्धारित करती थी)
2. अल्बानिया को पृथक तथा स्वतन्त्र राज्य घोषित किया जाये;
3. क्रीट स्वतन्त्र हो कर यूनान के साथ सम्मिलित हो जाये और
4. मैसीडोनिया, अल्बानिया, आदि के बंटवारे का प्रश्न अभी स्थगित माना जाये।

किन्तु जीते हुए प्रदेशों के बंटवारे का सवाल अनसुलझा ही रहा। युद्ध से पूर्व किये गये समझौते के अनुसार मैसीडोनिया बुल्गारिया को और अल्बानिया सर्बिया को दे दिया गया। बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशो में अधिकतर सर्बियावासी तथा युगोस्लाव ही रहते थे। ऑस्ट्रिया सर्बिया की इस बढती शक्ति को देखकर आशंकित हो गया। गुत्थी को उलझते देखकर बंटवारे का सवाल स्थगित कर दिया गया।

द्वितीय युद्ध

अल्बानिया को पृथक राज्य घोषित किये जाने के निश्चय पर सर्विया ने विरोध किया कि मैसीडोनिया (Macedonia) का प्रधान भाग बुल्गारिया को दिया जाना उन स्थितियो मे तय किया गया था कि अल्बानिया हमे मिलेगा। बुल्गारिया और सर्बिया किसी भी तरह एक-दूसरे से सहमत नही हो सके। फलत दोनो पक्षों ने शक्ति आजमाने का निश्चय किया। 29 जून, 1913 को बुल्गारिया ने अपने पुराने मित्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इसमे सर्बिया, मांटीनिग्रो, यूनान और रूमानिया मिलकर बुल्गारिया के विरुद्ध युद्ध लड रहे थे। तुर्की भी बुल्गारिया के विरुद्ध अन्य बाल्कन राज्यों की सहायता कर रहा था। लगभग एक महीने तक युद्ध जारी रहा परन्तु अकेले बुल्गारिया के लिए इतने शत्रुओं से अधिक समय तक युद्ध जारी रखना असंभव था। अत वह हर मोर्चे पर परास्त हुआ। अन्त में वह सन्धि के लिए प्रार्थना करने को विवश हुआ। दोनों पक्षों के बीच 10 अगस्त को रूमानिया की राजधानी बुखारेस्ट में सन्धि हुई।

मैसीडोनिया का बंटवारा अब बिलकुल सुगम था। सन्धि-परिषद् के अनुसार सर्बिया, मांटीनिग्रो तथा यूनान को मैसीडोनिया के कई प्रमुख भाग मिले। शेष मैसीडोनिया बुल्गारिया को मिला।

परिणाम

यद्यपि ऊपरी तौर पर समझौतो के कारण बाल्कन राज्यों मे शांति स्थापित हो गयी किन्तु बुल्गारिया भीतर ही भीतर अपमान से सुलग रहा था और किसी भी तरह इन राज्यों से प्रतिशोध लेना चाहता था। शायद इसी कारण प्रथम विश्व युद्ध मे उसने सर्बिया के विरोधियों का साथ दिया। ऑस्ट्रिया भी इस सन्धि से अप्रसन्न था। इसका कारण यह था कि इटली से निकाले जाने के बाद ऑस्ट्रिया के व्यापार का मुख्य केंद्र एड्रियाटिक सागर (Adriatic Sea) के स्थान पर एजियन सागर (Aegean Sea) हो गया था। वह पश्चिमी एशिया के लिए कोई व्यापारिक मार्ग चाहता था। इधर सर्बिया बहुत बढ गया था और वह अब स्लाव जाति की एकता का केंद्र हो गया था। ऑस्ट्रिया पहले से ही उसके विरुद्ध था। अतः भविष्य में दोनों के बीच किसी भी तरह के युद्ध की बराबर संभावना थी।

चूंकि दूसरे युद्ध मे तुर्की ने बुल्गारिया के विरुद्ध अन्य राज्यो का साथ दिया था, अतः कुछ प्रदेश तुर्क साम्राज्य को लौटा दिये गये।

रूस-जापान युद्ध
(Russo-Japanese war)

काल 1904-1905, स्थान . पोर्ट आर्थर (प्रशांत महासागर)

20वीं सदी के प्रारम्भ में ज़ारशाही रूस ने सुदूर पूर्व एशिया (Far East Asia) के दो देशों, मंचूरिया और कोरिया पर अधिकार कर लिया। जापान ने रूस की इन कार्रवाइयों का विरोध किया क्योंकि यह इन्हें अपना उपनिवेश बनाना चाहता था। इन देशों को खाली करने के लिए जापान ने पत्र-व्यवहार किया किन्तु कोई भी संतोषजनक उत्तर न मिलने पर 8 फरवरी, 1904 को उसने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और इस युद्ध मे रूस न सिर्फ हार गया बल्कि यूरोप की अन्य शक्तियों के समक्ष उसकी साख भी घट गयी जबकि जापान को एक बड़ी सैन्य-शक्ति के रूप मे मान्यता मिली. . ...

ज़ारशाही रूस (Tsarist Russia) और जापान के मध्य लड़ा गया यह युद्ध वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण युद्धो मे से एक है। इसे सुदूर पूर्व के देशो मे रूस और जापान के बीच उपनिवेशवाद की प्रतिद्वंद्विता का युद्ध भी कहा जा सकता है, जिससे न केवल विश्व के मानचित्र पर एशिया एक शक्ति के रूप मे उभरा बल्कि कमजोर जारशाही प्रशासन के खिलाफ 1905 की रूस की पहली क्रांति (First Russian Revolution of 1905) को भी बल मिला।।
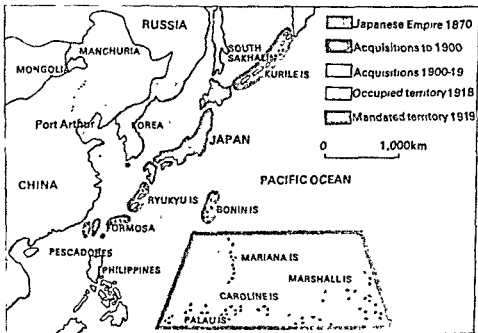
रूस का सैन्य-बल ज़ार (Tsar) के कमजोर नेतृत्व में बडा असगठित और असुरक्षित होता जा रहा था। देश में भुखमरी और गरीबी तो थी ही, सैनिको को कई-कई महीनों तक वेतन भी नही मिलता था। उन्हे न तो ठीक ढग से रसद (food supply) मिल पाता और न ही युद्ध के लिए आवश्यक अन्य साज-समान। जबकि जापान लगातार औद्योगीकरण के साथ-साथ विकास कर रहा था।

इसके अलावा सम्राट मेजी (Emperor Meiji, 1852-1912) के शासन-काल में जापान की सेना को नये ढग से सुसगठित कर उसका आधुनिकीकरण किया गया। अग्रेजी विशेषज्ञो को रेलवे, तार, जहाजी बेडे, आदि के निर्माण के लिए बुलाया गया। फ्रासीसी विशेषज्ञो ने जापानियो को सैनिक शिक्षा दी। फलतः जापान की गणना विश्व की महाशक्तियो मे की जाने लगी।

इस प्रगति के कारण जापान को भी कच्चे माल के लिए नये भू-क्षेत्रो तथा माल बेचने के लिए बाजारों की आवश्यकता महसूस हुई। कोरिया व चीन को सैनिक दृष्टि से कमजोर पाकर जापान ने इन देशो मे घुसपैठ शुरू कर दी। 1894-95 मे एक साधारण बहाना लेकर जापान ने चीन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और चीन को परास्त कर दिया। रूस ने फ्रांस व जर्मनी से मिल कर जापान को चीन की विजय से लाभ उठाने से रोकने के कई प्रयत्न किये। उसने जापान को चीनी बंदरगाह पोर्ट आर्थर (Port Arthur) पर अधिकार नही करने दिया। पहले तो रूस ने यह बंदरगाह चीन को वापस दिलवा दिया परन्तु 1898 में स्वय इस पर अधिकार कर लिया। रूस ने ट्रास-साईबेरियन रेलवे (Trans Siberian
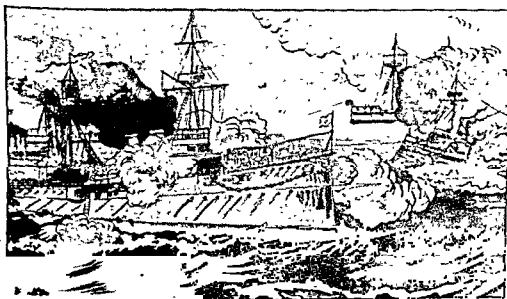
कोरिया में समुद्री युद्ध का एक दृश्य

Railway) को पोर्ट आर्थर तक बढ़ाने का निश्चय किया। 1900 में रूस ने मंचूरिया पर भी अधिकार कर लिया। जापान की सरकार रूस की इन कार्रवाइयों से असंतुष्ट थी और किसी भी उपयुक्त अवसर की तलाश में थी। कुछ वर्षों के पत्र-व्यवहार के पश्चात् उसने रूस को मंचूरिया खाली करने को कहा। सतोषजनक उत्तर न मिलने पर 8 फरवरी, 1901 को बिना किसी पूर्व सूचना के जापान की नौसेना ने पोर्ट आर्थर पर खड़े रूसी युद्धपोतों पर आक्रमण कर दिया और जनवरी, 1905 में इस पर अधिकार कर लिया।

जापान की सेनाओं ने कोरिया से भी रूसी सेनाओं को बाहर निकाल दिया। पोर्ट आर्थर में जापान की नौसेना ने रूसी बेड़े को भी नष्ट कर दिया। 1905 के पश्चात् पोर्ट आर्थर में रूसी सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। 1905 में मुकदेन (मंचूरिया) के युद्ध में लगभग सवा लाख रूसी सैनिक मारे गये तथा घायल हुए। त्सुशिमा (Tsushima) की खाड़ी में 27 मई 1905 को जापानी नौसेना की पूर्ण रूप से विजय हुई और रूसी जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया। इस युद्ध ने रूस को सन्धि करने पर विवश कर दिया।

परिणाम

संयुक्त राष्ट्र अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट President of USA Theodore Roosevelt) के प्रयत्नों से सितम्बर, 1905 में पोर्ट्समाउथ की सन्धि (Treaty of Portsmouth) के साथ युद्ध की समाप्ति हुई। इस सन्धि के अनुसार आर्थर बन्दरगाह और लाओतुंग तथा दक्षिणी सखालिन द्वीप जापान को दिये गये। कोरिया पर जापान के प्रभुत्व को बरकरार रहने दिया गया। मंचूरिया चीन को लौटा दिया गया।

प्रो एच जी वेल्स के मतानुसार रूस-जापान युद्ध में एशिया में यूरोपीय राष्ट्रों के वर्चस्व की समाप्ति हुई। आधुनिक इतिहास में यह पहला अवसर था जब कि एक एशियाई शक्ति ने एक यूरोपीय शक्ति को परास्त किया। परिणामस्वरूप एशिया के पिछड़े राष्ट्रों ने अपनी स्वतन्त्रता के लिए आंदोलन प्रारम्भ कर दिये। चीन में क्रांति की तैयारियां होने लगी और भारत में भी स्वतन्त्रता का संघर्ष तीव्र गति से चलने लगा। विश्व एव एशिया में एक नयी शक्ति के रूप में उभरने के कारण जापान की अतर्राष्ट्रीय छवि में असाधारण वृद्धि हुई तथा रूस में क्रांति की हवा ने जोर पकड़ा।

इस युद्ध में समुद्री जंगी बेड़े और नौसेना की विशेष भूमिका रही। जापान की सुसंगठित नौसेना के सामने रूस की विशाल सेना कमजोर साबित हुई। फलत. जापान विजयी रहा।

फ्रांस-प्रशिया युद्ध
(Franco-Prussian War)

काल : 1870; स्थान : सेडान (फ्रांस)

प्रिंस ओटो वॉन बिस्मार्क (Prince Otto Von Bismarck, 1815-98) को इसी युद्ध ने जर्मन साम्राज्य का संस्थापक और प्रथम चांसलर बना कर इतिहास में अमर कर दिया। बिस्मार्क के जीवन की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा थी कि किसी भी तरह टुकड़ों में बंटे सभी जर्मन क्षेत्रों को प्रशिया के नेतृत्व में एक कर दिया जाये। किन्तु डेनमार्क, ऑस्ट्रिया तथा फ्रांस के रूप में तीन ऐसी शक्तियां थीं जिन्हें पराजित किये बिना बिस्मार्क का सपना पूरा नहीं हो सकता था। उसने 1864 में डेनमार्क को और 1866 में ऑस्ट्रिया को हराने के बाद 1870 में फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। इस फ्रांस-प्रशिया युद्ध में प्रशिया की जीत तो हुई ही, यूरोप में फ्रांस अलग-थलग पड़ गया और शक्ति के नये केंद्रों का उदय हुआ........ ..

जिन दिनों फ्रांस-प्रशिया युद्ध हुआ, फ्रांस की गद्दी पर नेपोलियन तृतीय (Napoleon III) था। वह नेपोलियन प्रथम या महान नेपोलियन बोनापार्ट (Great Napoleon Bonaparte) का भतीजा था किन्तु उसमें न तो अपने चाचा जैसी युद्ध-क्षमता थी, न शासकीय प्रतिभा। वास्तव में वह एक अयोग्य शासक था और अपनी नीतियों के कारण अलोकप्रिय भी। हां, वह

महत्त्वाकांक्षी अवश्य था। महत्त्वाकांक्षी होने के कारण ही जब 1848 में राजशाही (monarchy) समाप्त करके फ्रांस मे जनतन्त्र की घोषणा की गयी और उसे समाजवादी सरकार का प्रथम राष्ट्रपति चुना गया तो उसे अपना पद बहुत छोटा महसूस हुआ। उसने जनतन्त्र को समाप्त करके फिर साम्राज्य की स्थापना कर दी और वह राष्ट्रपति से बादशाह बन गया।

दूसरी ओर, बिस्मार्क के नेतृत्व मे प्रशिया एक सुसगठित शक्ति बनता जा रहा था। बिस्मार्क का सपना था कि प्रशिया के नेतृत्व में सभी जर्मन राज्यों को आपस मे मिलाकर जर्मन साम्राज्य की स्थापना की जाये। वह अपने इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए सुनियोजित ढग से आगे बढ़ रहा था। सबसे पहले ऑस्ट्रिया की मदद से उसने डेनमार्क को पराजित (1864) करके अपनी राह की बाधा दूर की किन्तु डेनमार्क के विरुद्ध युद्ध मे प्रशिया का साथ देने वाला ऑस्ट्रिया स्वयं एक बाधा बन गया क्योकि ऑस्ट्रिया के शासक जर्मन राज्यो के बीच अग्रणी बनना चाहते थे और उनकी यह आकांक्षा बिस्मार्क की महत्त्वाकांक्षा से टकरा गयी। परिणाम यह हुआ कि प्रशिया ने ऑस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया।

उधर फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय ने समझा कि प्रशिया और ऑस्ट्रिया के युद्ध मे जब दोनों शक्तिया थक कर धन-जन हीन हो जायेंगी तब वह बीच में पड कर दोनो से मनमानी शर्तें मनवा लेगा किन्तु 3 जुलाई, 1866 को हुए सैडोवा (Sadowa) के युद्ध से उसकी सभी आशाएं धूल मे मिल गयी।

विलियम I का राज्याभिषेक : बीच में सफेद पोशाक में बिस्मार्क

ऑस्ट्रिया की हार हुई और जीते हुए भाग में से बिस्मार्क ने फ्रांस को कुछ भी नहीं दिया। यही नहीं, नेपोलियन को लक्समबर्ग (Luxemburg) लेने से भी रोक दिया। नेपोलियन ने तब बिस्मार्क से प्रस्ताव किया कि यदि बिस्मार्क बवेरिया (Bavaria), पेलेटिनेट (Palatinate) तथा होस (Hesse) जिले उसे दे दे तो वह उसकी ओर हो जायेगा। बिस्मार्क ने उससे इस आशय का लिखित प्रस्ताव भेजने के लिए कहा। ऐसा उसने इसलिए किया कि नेपोलियन के इस प्रस्ताव के कारण जर्मनो की राष्ट्रीय भावनाओ को ठेस लगे और वे फ्रास के विरुद्ध हो जाये क्योंकि वह फ्रांस के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध चाहता था। जर्मनों की राष्ट्रीय भावनाओं को उभारने से जर्मन राज्यो को एक करने की उसकी भावी योजनाओं को भी मदद मिलती।

इस प्रकार फ्रांस और प्रशिया में मनमुटाव यढ गया। फ्रांस अपने पडोस में एक शक्तिशाली जर्मन राज्य को सुगठित होते नही देखना चाहता था तो प्रशिया को राष्ट्र-निर्माण तथा उसके एकीकरण के लिए फ्रास से युद्ध की आवश्यकता थी। इन परिस्थितियों मे जरा-सा भी बहाना युद्ध के लिए काफी था।

1868 में स्पेनवासियो ने रानी इज़ाबेला (Queen Isabella) के विरुद्ध विद्रोह करके उसे निष्कासित कर दिया और होहेनजोलर्न (Hohenzollern) वंश के लीयोपोल्ड (Leopold) को सिहासन पर बिठाया। लीयोपोल्ड प्रशिया के राजा का संबंधी था। फ्रांस को यह भय था कि लीयोपोल्ड के स्पेन की गद्दी पर बैठने से स्पेन पर प्रशिया का प्रभाव वढेगा और उसे दोनो ओर से खतरा हो जायेगा। फ्रांस के विरोध के कारण लीयोपोल्ड ने स्पेन का सिंहासन अस्वीकार कर दिया। नेपोलियन तृतीय ने प्रशिया के शासक विलियम को भी सदेश भेजा कि होहेनजोलर्न वंश का कोई भी राजकुमार स्पेन की गद्दी पर नही बैठेगा।

विलियम ने यह समाचार तार द्वारा अपने मत्री बिस्मार्क के पास भिजवाया। बिस्मार्क तो युद्ध चाहता ही था। उसका विचार ठीक था कि फ्रास की हार से प्रशिया के नेतृत्व में जर्मन साम्राज्य स्थापित हो जायेगा। युद्ध के लिए समय की उपयुक्तता को देखते हुए फ्रांसीसी राजदूत तथा राजा विलियम की भेंट को इस प्रकार प्रचारित किया गया, जिससे लगे कि विलियम ने फ्रास के राजदूत का अपमान किया हो। फ्रासीसियो ने राजदूत के अपमान को राष्ट्रीय अपमान समझा। इधर, जर्मनी की राष्ट्रीय भावना को जगाने के लिए बिस्मार्क ने नेपोलियन के उस लिखित प्रस्ताव को प्रकट किया, जिसमें उसने जर्मनी के कुछ भाग बिस्मार्क से मागे थे। इसे देखकर जर्मनवासियों में भी फ्रांस के विरुद्ध आक्रोश भडक उठा।

युद्ध का प्रारम्भ

फलतः 1870 मे युद्ध आरम्भ हुआ। नेपोलियन को आशा थी कि दक्षिण जर्मनी की रियासते प्रशिया से द्वेष के कारण उसका साथ देंगी परन्तु जर्मनी के

लोगो मे अपने निहित स्वार्थों म वढ़कर राष्ट्र का गौरव था और वे एकजुट होकर फ्रांस के खिलाफ खड़े हो गये। कई शताब्दियों के बाद एक बार फिर संपूर्ण जर्मनी अपने चिर-शत्रु के विरुद्ध युद्ध के लिए चला तथा उसने उसे वर्थ (Worth) और ग्रेवलोथ नामक स्थानों पर हराया।

अन्ततः 2 सितम्बर, 1870 को सेडान (Sedan) के बड़े युद्ध में लगभग 80,000 फ्रांसीसी सैनिकों ने वॉन मोल्ट (Von Moltke) के सामने शस्त्रास्त्र रखकर आत्मसमर्पण कर दिया। नेपोलियन तृतीय को कैद कर लिया गया। फ्रांस मे एक बार फिर जनतन्त्र की घोषणा कर दी गयी और गैम्बेटा के अधीन अस्थायी सरकार स्थापित हुई। फ्रैंकफर्ट की सन्धि से आल्सेस (Alsace) और लॉरेन जर्मनी को मिले और जर्मनी को क्षति-पूर्ति के रूप मे फ्रास को भारी रकम देनी पड़ी।

परिणाम

इस युद्ध का जर्मनी, इटली तथा फ्रास पर गहरा प्रभाव पड़ा। जर्मनी का एकीकरण हुआ। उसे आल्सेस, लॉरेन, मेज तथा स्ट्रेसवर्ग मिले। 18 जनवरी, 1871 को वारसाई (Versailles) के राजमहल में विलियम प्रथम को जर्मनी का सम्राट घोषित किया गया। बिस्मार्क और सेनापति मोल्ट उसके दोनों ओर खड़े थे। बर्लिन को संयुक्त जर्मनी की राजधानी बनाया गया।

इसी युद्ध से इटली का भी एकीकरण पूर्ण हुआ। अब तक रोम मे फ्रांस की सेना पड़ी थी। इस युद्ध में फ्रास को रोम से अपनी सेना वापस बुलाने की आवश्यकता पड़ी। रोम को खाली देख कर विक्टर एमेनुएल ने उस पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनाया। पोप की राजनैतिक शक्ति समाप्त हो गयी। फ्रास में तृतीय जनतन्त्र (Third Republic) की स्थापना हुई और नेपोलियन तृतीय के साम्राज्य का पतन हो गया।

क्रीमिया युद्ध
· (Crimean War)

काल : 1854-1856; स्थान : सेवास्तोपोल (सोवियत संघ का काला सागर तटवर्ती प्रदेश)

तुर्क साम्राज्य के ईसाइयों को सुरक्षा प्रदान करने के बहाने रूस अपने भू-क्षेत्र का विस्तार कोंस्टेंटिनोपल (Constantinople) तक करके भूमध्य सागर के बंदरगाहों पर अधिकार पाना चाहता था। जब जुलाई, 1853 में रूस ने तुर्की के मोल्दाविया और वलेशिया (Walachia) प्रदेश पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया तो तुर्की ने अक्तूबर में रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मार्च, 1854 में ब्रिटेन, फ्रांस और सारडिनिया (Sardinia) भी उसकी मदद के लिए आ गये क्योंकि उन्हें भी इस क्षेत्र में रूसी विस्तार से भय होने लगा था। अक्तूबर, 1854 में चारों मित्र राष्ट्रों ने काला सागर के क्रीमिया तटवर्ती रूसी नगर सेवास्तोपोल(Sevastopol)पर बमबारी की और क्रीमिया युद्ध के नाम से प्रसिद्ध यह युद्ध लगभग दो साल तक चलता रहा। अन्त में, रूस ने पराजय स्वीकार करके मार्च, 1856 में मित्र राष्ट्रों के साथ सन्धि कर ली....

यद्यपि इस युद्ध का कारण रोमन कैथोलिक चर्च और ग्रीक कैथोलिक चर्च के बीच पेलेस्टाइन (Palestine) के धार्मिक स्थानों के संरक्षण के सवाल को लेकर चल रहा धार्मिक विवाद था किन्तु यूरोपीय देशों के आपसी वैमनस्य को भी नजरअंदाज नही किया जा सकता। वास्तव में बात यह थी कि रूस कमजोर होते तुर्की साम्राज्य के कुछ क्षेत्रों पर कब्जा करके कोंस्टेंटिनोपल तथा भूमध्यसागर

तक अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता थां। उसके लिए यही एक अच्छा अवसर था। फलतः ईसाइयो के अधिकारों की सुरक्षा तथा पेलेस्टाइन के धार्मिक स्थानों के संरक्षण के भार का दावा करते हुए जुलाई, 1853 को रूस ने तुर्की के मोल्दाविया (Moldavia) और वलेशिया (Walachia) भू-क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया।

इधर, ब्रिटेन और फ्रांस यूरोप के इन भू-क्षेत्रो पर रूस की बढ़ती शक्ति को देखकर सशंकित हो उठे। रूस यूरोपीय शक्ति न बन जाये, इसलिए ब्रिटेन और फ्रांस ने तुर्की का साथ देने का संकल्प किया। अब एक ओर रूस तथा दूसरी ओर ब्रिटेन, फ्रास, तुर्की तथा सारडिनिया, चार 'मित्र राष्ट्र' (allied countries) थे।

दरअसल दोनो पक्ष किसी भी तरह युद्ध चाहते थे ताकि साम्राज्य-विस्तार, यश एव धन-सम्पत्ति पाने की उनकी महत्त्वाकाक्षाए पूरी हो सकें। ईसाइयों के बीच आपसी मतभेद उनके लिए एक बहाना था, जिसकी आड मे वे अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे। रूस तुर्की साम्राज्य का विघटन चाहता था। 1844 मे रूसी सम्राट जार निकोलस ने ब्रिटेन को तुर्की साम्राज्य के विभाजन के लिए कहा था। 1853 में पुन इस इच्छा को दोहराते हुए रूस ने ब्रिटेन को आश्वासन दिया कि काला सागर मे उसे जो अधिकार प्राप्त होंगे, बदले मे वह उसे मिस्र व तुर्की मे अधिकार देने को तैयार है।

किन्तु ब्रिटेन तुर्की का विघटन नही चाहता था। इसलिए वह आवश्यकता पडने पर तुर्की की सहायता करता था। एक अन्य कारण भी था—तत्कालीन ब्रिटिश राजदूत रूसी सम्राट का विरोधी था। 1832 मे जार ने रूस मे उस राजदूत का विरोध किया था। अत ब्रिटेन उस अपमान से भी हलका होना चाहता था।

फ्रास के शासक नेपोलियन तृतीय (Napoleon III) की महत्त्वाकांक्षा नेपोलियन महान (Napoleon the Great) बनने की थी, इसलिए वह प्रत्येक अतर्राष्ट्रीय झगड़े के समय किसी न किसी तरह यश, धन, भू-सम्पत्ति पाने की तथा फ्रांस के लाभ की बात सोचा करता था। उसका शासन रोमन कैथोलिको एव सैनिको के समर्थन पर आधारित था। अत उसके लिए इन दोनो को सतुष्ट करना भी जरूरी था।

युद्ध का प्रारम्भ

5 अक्तूबर, 1853 को तुर्की ने रूस से वलेशिया तथा मोल्दाविया को खाली करने की मांग की किन्तु रूस ने इस मागे को अस्वीकार कर दिया। फलत तुर्की ने रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मार्च, 1854 मे ब्रिटेन, फ्रास और सारडिनिया भी आ मिले और उन्होने रूस के खिलाफ काला सागर मे अपने जहाजी बेडे भेज दिये। रूस ने तुरन्त वलेशिया एवं मोल्दाविया को खाली कर दिया। इस प्रकार युद्ध का कारण समाप्त हो गया किन्तु 'मित्र राष्ट्रो' ने युद्ध को बद नही किया

बल्कि 17 अक्तूबर, 1854 को रूस के प्रसिद्ध दुर्ग सेवास्तोपोल (Sevastopol) का घेरा बांधकर भारी बमबारी शुरू कर दी। दरअसल उनका उद्देश्य रूस की शक्ति को पूरी तरह कुचल देना था।

क्रीमिया का युद्ध दो वर्ष तक जारी रहा। इस दौरान दोनो पक्षो को अत्यन्त हानि उठानी पडी। पांच लाख से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हुई तथा अरबो रुपयों की हानि हुई। जन-धन की यह अपार क्षति 25 अक्तूबर को बालाकलवा (Balaklava) तथा 5 नवम्बर की इंकरमैन (Inkerman) की दो प्रमुख लड़ाइयो में हुई। इस दशा में युद्ध को जारी रखना उपयोगी नही था। रूस भी युद्ध से तंग आ चुका था। उसे खतरा था कि कही ऑस्ट्रिया भी शत्रुओ के साथ सम्मिलित न हो जाये, क्योंकि वह भी बाल्कन प्रायद्वीप में अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहता था। रूस उसके लिए सबसे बड़ी रुकावट था। अन्ततः सितम्बर, 1855 को सेवास्तोपोल की घेरेबंदी टूटी और 'मित्र राष्ट्रो' की विजय हुई। अंतिम रूप से युद्ध फरवरी, 1856 में खत्म हुआ और मार्च मे दोनों पक्षो के बीच पेरिस में सन्धि हुई।

परिणाम

सन्धि के अनुसार रूस ने तुर्की साम्राज्य की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। उसने तुर्की के आंतरिक मामलो मे किसी भी तरह का हस्तक्षेप न करने की बात भी मान ली। यद्यपि लगातार दुर्बल होते तुर्की साम्राज्य की दशा मे इस सन्धि से कोई सुधार नहीं आया।

काला सागर को शांति क्षेत्र (Zone of peace) माना गया और ऐसी व्यवस्था की गयी ताकि कोई भी देश अपने जंगी जहाजो का बेड़ा वहा नही रख सके और न ही उसके तट पर युद्ध के लिए सामान जमा कर सके।

रूस मानता आया था कि रूमानिया और सर्बिया को सुरक्षा प्रदान करने का अधिकार उसे है किन्तु उसके इस अधिकार को समाप्त कर सभी यूरोपीय देशों ने इन दोनो देशों के स्वतन्त्र अस्तित्व को मान्यता दे दी।

इस युद्ध से रूस की प्रतिष्ठा को बहुत धक्का लगा और ब्रिटेन की नीति पूर्णत सफल हुई। तुर्की साम्राज्य को कायम रखकर रूस की महत्त्वाकाक्षा पर अकुश रखा जा सकता है, ब्रिटेन के इस विचार को पूर्ण रूप से सफलता मिली।

वाटरलू युद्ध
(The Battle of Waterloo)

काल : 1815, स्थान : वाटरलू (बेल्जियम)

बेल्जियम (Belgium) की राजधानी ब्रुसेल्स (Brussels) के दक्षिण मे एक जगह

ब्रिटेन, ऑस्ट्रिया, प्रशिया और रूस के सम्मिलित विरोध के कारण यूरोप के सभी देशों को जीत लेने और उन्हें फ्रास मे मिला कर एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने का नेपोलियन का सपना अधूरा ही रह गया ..

विश्व-इतिहास मे नेपोलियन प्रथम (1769-1821) के उत्थान और पतन की कहानी बडी नाटकीय है। नेपोलियन बोनापार्ट (Napoleon Bonaparte) नामक इस साधारण सैनिक के फ्रास का सम्राट (1804-1814) बनने तक की कहानी जितनी रोमाचक है, उतनी ही साहसपूर्ण भी। अपने उत्कर्ष-काल मे वह पूरे यूरोप के लिए आतक और भय बन गया था। उसका सपना था कि यूरोप के सभी देशो को जीत कर फ्रास की छत्रछाया में एकविशाल साम्राज्य की स्थापना की जाये। ब्रिटेन और ऑस्ट्रिया को छोडकर लगभग पूरा यूरोप फास के आधिपत्य मे आ भी गया था।
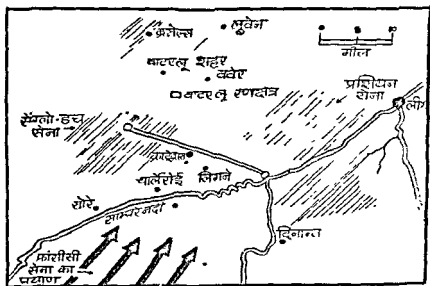
नेपोलियन एक बहादुर योद्धा और कुशल सेनानायक अवश्य था किन्तु उसके आक्रमणों तथा जीतो से यूरोप के अन्य देशों को अपनी स्वतन्त्रता छिनती दिखाई दी। वे धीरे-धीरे अपने आपसी मतभेद भुलाकर नेपोलियन के विरुद्ध एकजुट होने लगे। ब्रिटेन, ऑस्ट्रिया, प्रशिया, रूस, स्पेन और पुर्तगाल सहित् उस समय के सभी प्रमुख यूरोपीय देश नेपोलियन की पराजय के लिए प्रयत्नशील हो गये। 1812 में रूस पर आक्रमण करके नेपोलियन को काफी क्षति पहुंची थी और बहुत बड़ी संख्या मे उसके सैनिकों के मारे जाने के कारण उसकी सेना दुर्बल भी हो गयी थी। प्रायद्वीपीय युद्धो (Peninsular wars, 1808-1814) मे भी उसकी शक्ति क्षीण हुई थी।

नेपोलियन के विरुद्ध एकजुट हुए देशों की सेनाओ ने लाइपजिग (Leipzig) में फ्रांसीसी सेनाओं को बुरी तरह पराजित किया। 1814 मे हुए इस युद्ध के बाद नेपोलियन को फ्रासीसी सम्राट के पद का त्याग करना पडा। उसे एल्बा (Elba) द्वीप पर जा कर एकाकी जीवन बिताने के लिए निर्वासित कर दिया गया।

अप्रैल, 1814 मे ही प्रथम पेरिस समझौता हुआ। समझौते पर मित्र देशो के प्रतिनिधियो तथा फ्रांस की ओर से बूरबन (Bourbons) नामक पुराने शाही खानदान के उत्तराधिकारी लुई अठारहवें (Louis XVIII) ने हस्ताक्षर किये। फ्रास की गद्दी पर लुई अठारहवें को बिठाया गया।

उधर, नेपोलियन लगभग दस महीने तक निर्वासित जीवन बिताने के बाद एल्बा द्वीप से भाग निकला और फ्रांस चला आया। उसने दुबारा गद्दी हथिया ली और सेना गठित की। उसका इरादा सेना गठित करके मित्र देशो की संयुक्त सेनाओ पर आक्रमण करने का था। अपना इरादा पूरा करने के लिए वह जून, 1815 में सेना लेकर बेल्जियम के रास्ते चल पडा। ब्रूसेल्स के निकट वाटरलू मे ब्रिटेन, ऑस्ट्रिया, प्रशिया और रूस की संयुक्त सेनाओं से उसका मुकाबला हुआ।

युद्ध का प्रारम्भ

18 जून, 1815 को वाटरलू के प्रसिद्ध मैदान मे यह निर्णायक युद्ध शुरू हुआ। नेपोलियन ने प्रारम्भ में बडी फुर्ती तथा बुद्धिमानी से काम लिया। ब्रिटिश और प्रशियन सेनाएं इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। उसे ज्ञात हुआ कि युद्ध के लिए वे सवेरे तक तैयार नहीं हो सकती, इसलिए उसने अपनी सेना को जनरल ने (General Ney) और जनरल ग्रोशी (Gen. Grouchy) के नेतृत्व मे दो भागो मे बांट दिया। स्वयं एक सेना लेकर इस आशा से तैयार हो गया कि आवश्यकता पडने पर जहां से भी सहायता मांगी जायेगी, भेज दी जायेगी।

किन्तु प्रशियन जनरल ब्लूचर (Blucher) की तेजी के कारण उसका यह विचार सफल न हो सका। एकाएक प्रशियन सेना नेपोलियन से लिज (Liege) में भिड पड़ी। नेपोलियन अकेला लड़ा था। जनरल ने (Gen. Ney) का एक सैनिक
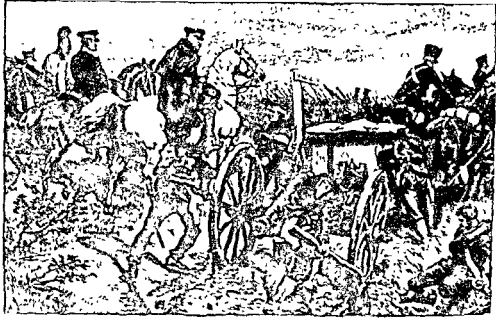
मैदान में सैनिकों के साथ बढ़ता प्रशियन जनरल ब्लूचर

भी वहा न पहुच सका था क्योकि उसके सैनिक काटरब्रास (Quatre Bras) मे ब्रिटिश जनरल वेलिंगटन (Gen. Wellington) से लड रहे थे। जनरल अरलन 20 हजार सैनिक लिये काटरब्रास जा रहा था कि उसे तुरन्त लिज पहुंचने का आदेश मिला। अजीब स्थिति में फंसा वह दोनों मैदानों के बीच युद्ध किये बिना दौड़ता रहा। यही भूल नेपोलियन को महगी पडी।

इस समय तक नेपोलियन को प्रशियन सेना के विरुद्ध विजय प्राप्त हुई थी। उसने समझा कि प्रशियन नष्ट हो गये है, इसलिए उसकी गति भी मद हो गयी। उस दिन उसने विश्राम करने का भी निश्चय किया। दोपहर मे जनरल ग्रोशी को प्रशियन सेना के पीछे जाने की आज्ञा देकर वह स्वय जनरल ने (Gen. Ney) की सहायता के लिए पहुच गया।

यदि कही नेपोलियन चार घटे पहले रवाना हो जाता तो ड्यूक ऑफ वेलिगटन पर आक्रमण करना सहज था क्योंकि उस दिन वह माटजीन की पहाडी पर पडाव डाले पडा था। नेपोलियन के पास शत्रु से अधिक सेना थी किन्तु दूसरे दिन भी 12 बजे तक नेपोलियन ने आक्रमण नहीं किया।

वाटरलू के रणक्षेत्र मे तीन दिन तक घमासान युद्ध होता रहा। यह कहना कठिन था कि किस पक्ष की विजय होगी। शाम को चार बजे ब्लूचर के नेतृत्व मे कुछ प्रशियन वेलिंगटन की सहायता को आ गये। दिन के अंतिम घटों मे फ्रांसीसी सेना का पीछे हटना भगदड मे परिवर्तित हो गया। युद्ध की दिशा ही बदल गयी और नेपोलियन को इतनी भयंकर पराजय का सामना करना पडा कि वाटरलू उसके प्रसिद्ध युद्धो का अतिम चरण साबित हुआ।

नेपोलियन पेरिस भाग खड़ा हुआ। वह अब भी सेना का गठन कर युद्ध करना चाहता था किन्तु ब्रिटिश गुप्तचरों ने उसे कैद कर लिया। मित्र देशों के कई सेनाधिकारी उसे तोप से उड़ा देना चाहते थे किन्तु वेलिंगटन जैसे वीर सेनापतियो के विरोधस्वरूप उसे दक्षिण अटलांटिक सागर के सेंट हेलेना द्वीप (Island of St. Helena) पर अकेला छोड़ दिया गया। अपनी पराजय से क्षुब्ध तथा पेट की एक भयंकर बीमारी के कारण 5 मई, 1821 को नेपोलियन की मृत्यु हो गयी।

परिणाम

वाटरलू के इस युद्ध मे नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप के इतिहास मे दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो का जन्म हुआ। एक तो प्रतिक्रियावादी, जिसके समर्थक स्वाधीनता, समानता और बंधुत्व की जगह निरकुश शासन के हामी थे। दूसरे, सुधारवादी प्रवृत्ति के समर्थक थे, जो सामतवाद के विरोधी और प्रजातांत्रिक प्रणाली के पक्षधर थे।

फ्रांस, इंग्लैड तथा बेल्जियम मे सुधारवादी प्रवृत्तिया स्पष्ट रूप से दिखाई पडती थीं। फिर भी पहले तीस वर्षो तक यूरोप में प्रतिक्रियावाद का बोलबाला रहा। नये-नये देशों का उनकी इच्छा के विरुद्ध आपस मे विलय कर दिया गया। बेल्जियम को उसकी इच्छा के विरुद्ध हॉलैंड से बाध दिया गया किन्तु सामान्य जन तुरन्त ही इस प्रवृत्ति से ऊब गये। फलतः यूरोप के विभिन्न देशो में क्रातिया हुई। इन्हीं हलचलो को देखकर फ्रांस मे दो बार राजतन्त्र को पलट दिया गया और 1848 की क्रांति से वहा प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। ब्रिटेन में चार्टिस्ट आदोलन हुआ। प्रतिक्रियावाद का विधाता मेटरनिक स्वयं एक क्रातिकारी झोके से सत्ताविहीन हुआ और उसे ब्रिटेन में शरण लेनी पडी।

युद्ध की विभीपिकाओ में जलता यूरोप शांत हो गया। यूरोपीय देशो ने वियना के सम्मेलन मे नवजात यूरोप की व्यवस्था पर विचार-विमर्श किया। फलतः आगामी अनेक वर्षो तक यूरोप युद्धविहीन रहा।

सेलेमेनका का युद्ध
(The Battle of Salamanca)

काल : 1812, स्थान : सेलेमेनका (मध्य पश्चिमी स्पेन)

स्पेन फ्रांस का मित्र देश था किन्तु नेपोलियन नहीं चाहता था कि यूरोप में कोई भी ऐसा देश बचा रह जाये जो फ्रांस के अधीन न हो और स्वतन्त्र रह कर खतरा पैदा कर सके। इसी इरादे से उसने 1808 में मुरात के नेतृत्व में सेनाएं भेज कर स्पेन पर कब्जा कर लिया और अपने भाई जोसेफ बोनापार्ट को वहां का राजा बना दिया। स्पेन की जनता ने विद्रोह कर दिया। पड़ोसी पुर्तगाल भी नेपोलियन की अधीनता से मुक्ति पाना चाहता था। ब्रिटेन नेपोलियन की बढ़ती शक्ति को रोकने के लिए पहले से ही प्रयत्नशील था। इस प्रकार, पुर्तगाल, ब्रिटेन और स्पेन की स्वतन्त्रताप्रेमी सेनाओं ने 1812 में स्पेनी नगर सेलेमेनका में फ्रांसीसी सेनाओं का मुकाबला किया। फ्रांसीसी सेनाएं पराजित हुईं और नेपोलियन का भाई जोसेफ स्पेन की गद्दी छोड़ कर भाग खड़ा हुआ. ...

नेपोलियन बोनापार्ट (Napoleon Bonaparte) कुशल योद्धा और सेनानायक अवश्य था किन्तु वह सदा अपनी सुरक्षा के प्रति आशंकित भी रहता था। उसके मन में यह बात बैठ गयी थी कि यदि यूरोप का कोई देश स्वतन्त्र रह गया या फ्रांस के अधीन नहीं हुआ तो उसका जीवन और साम्राज्य खतरे में पड़ जायेगा। इसी आशंका के कारण नेपोलियन ने कई गलत निर्णय लिये। पुर्तगाल और स्पेन पर उसके हमले इसी गलत निर्णय के परिणाम कहे जायेंगे।

स्पेन और पुर्तगाल, दोनों ही नेपोलियन के समर्थक थे और फ्रांस के साथ मित्रता चाहते थे किन्तु इन दोनों देशों का स्वतन्त्र अस्तित्व नेपोलियन की आंखों मे खटक रहा था। वह इन देशों पर आक्रमण के बहाने ढूंढ रहा था

1806 में नेपोलियन ने ब्रिटेन के विरुद्ध आर्थिक नाकेबंदी (economic blockade) की घोषणा की। महाद्वीपीय प्रणाली (continental system) के नाम से मशहूर इस नाकेबंदी का मकसद ब्रिटेन को यूरोप में आर्थिक रूप से अलग-थलग करके कमजोर बना देना था। नेपोलियन के अधीन यूरोप के जितने भी देश थे, वे इस प्रणाली को मानने को विवश थे किन्तु पुर्तगाल ने इस प्रणाली को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। नेपोलियन को पुर्तगाल पर आक्रमण का अच्छा बहाना मिल गया और उसने अब्रांतेस के ड्यूक (Duke of Abrantes) जुनोत (Junot) के नेतृत्व में एक बडी सेना वहां भेज दी। नवम्बर, 1807 में जुनोत ने पुर्तगाल पर हमला करके उस पर कब्जा कर लिया। पुर्तगाल के शाही परिवार (Royal Family) को भाग कर ब्राजील जाना पड़ा।

1808 में मुरात (Murat) के नेतृत्व में लगभग एक लाख फ्रांसीसी सेना ने स्पेन पर हमला कर दिया। इस बार हमले के लिए बहाना यह बनाया गया कि ब्रिटेन की नौसेना बहुत सुदृढ़ है और स्पेन के समुद्री तटों की ब्रिटिश नौसेना के विरुद्ध तभी सुरक्षा की जा सकती है जब वे तट फ्रांसीसी संरक्षण में हो। स्पेन पर विजय प्राप्त करने के बाद नेपोलियन के भाई जोसेफ बोनापार्ट को वहा की गद्दी पर बिठा दिया गया।

पुर्तगाल और स्पेन पर नेपोलियन ने अधिकार तो कर लिया किन्तु इन देशो की जनता ने विद्रोह कर दिया। जोसेफ बोनापार्ट के विरुद्ध गुरिल्ला कार्रवाइया लगातार चलती रही। इन देशभक्त गुरिल्लों को ब्रिटेन की हर प्रकार की सहायता मिलती रही।

रूस पर आक्रमण करके नेपोलियन के हाथ कुछ भी नहीं लगा था और बहुत बडी संख्या मे सैनिकों के मरने के कारण उसकी शक्ति क्षीण पड़ गयी थी। प्रायद्वीपीय युद्धों (Peninsular wars) मे भी नेपोलियन को क्षति उठानी पड़ी थी। यूरोप के उसके विशालकाय साम्राज्य में युद्ध के कई मोर्चे थे जिन पर उसे अपनी सेनाएं भी रखनी पड़ रहीं थीं और धन भी खर्च करना पड रहा था।

नेपोलियन की इन स्थितियों को ध्यान मे रखते हुए ब्रिटेन ने सर आर्थर वैलेस्ली (Sir Arthur Wellesley) के नेतृत्व में, जिन्हें बाद मे वेलिंगटन का ड्यूक (Duke of Wellington) बनाया गया, एक बड़ी सेना स्पेन को स्वतन्त्र कराने के लिए भेज दी। स्पेन की देशभक्त सेनाओं से समर्थित ब्रिटिश सेनाओं तथा फ्रांसीसी सेनाओं के बीच जुलाई-अगस्त, 1812 में युद्ध हुआ और फ्रांस की पराजय हुई। सेलेमेनका के निर्णायक युद्ध के बाद नेपोलियन का भाई स्पेन से भाग खड़ा हुआ।

युद्ध का प्रारम्भ

युद्ध 22 जुलाई, 1812 को सेलेमेनका नामक स्थान से शुरू हुआ। फ्रांसीसी सेनाओं का नेतृत्व मार्शल मार्मा कर रहे थे। मार्मा की सेना बुरी तरह पराजित हुई। 12 अगस्त, 1812 को नेपोलियन का भाई जोसेफ बोनापार्ट अपने साथियों सहित स्पेन की राजधानी मैड्रिड (Madrid) छोड़कर भाग गया और वेलिंगटन ने राजधानी मे प्रवेश किया परन्तु कुछ ही समय पश्चात् फ्रांसीसी सेनाओं ने पुनः मैड्रिड पर अधिकार कर लिया। नेपोलियन ने जोसेफ की सहायता के लिए जोर्डन नामक सेनापति को भेजा। 21 जून, 1813 को ब्रिटिश सेनापति ने जोसेफ तथा उसके सेनापति जोर्डन को विटोरिया (Vittoria) के युद्ध मे पराजित किया। जोसेफ तथा जोर्डन स्पेन छोडकर फ्रास भाग गये। बाद मे, वेलिंगटन ने फ्रांस पर भी आक्रमण किया।

परिणाम

नेपोलियन को इस युद्ध ने पतन के कगार पर ला खडा किया। दरअसल इस युद्ध मे नेपोलियन की घोर पराजय के पीछे कई स्थितिया काम कर रहीं थीं। स्पेन जैसे पहाडी प्रदेश मे फ्रासीसी सेनाएं अपना कौशल नही दिखा पायीं, जबकि स्पेनी छापामार शत्रु-सेना पर हमला कर पहाडो मे छिप जाते थे।

दूसरे, अभी तक नेपोलियन ने निरकुश राजाओ को ही पराजित किया था परन्तु यहां स्पेनवासियो की अटूट राष्ट्रीय भावना से उसका मुकाबला हुआ। फ्रांसीसी सेना का अधिकाश भाग स्पेनी छापामारों के विद्रोह-दमन में ही लगा रहा। फलत· तीन लाख सेना में से सिर्फ 70 हजार ही मोर्चे पर मौजूद थी।

पादरियो ने भी नेपोलियन का विरोध किया। उन्होंने जनता में उत्साह और साहस उत्पन्न किया। फ्रास से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् स्पेन मे एक सदनीय ससद व प्रजातन्त्र (Single house Parliament and Democracy) की स्थापना हुई। नेपोलियन के न केवल असंख्य सैनिक हताहत हुए बल्कि योग्य सेनापति भी मारे गये। इस तरह नेपोलियन की बिखरती शक्ति को देखकर उत्तरी यूरोप के राष्ट्र संगठित होकर पूर्ण स्वतन्त्र होने का स्वप्न देखने लगे। 1814 के लाइपजिग (Leipzig) युद्ध मे प्रशिया, रूस, ऑस्ट्रिया और ब्रिटेन तथा 1815 के 'वाटरलू' युद्ध में वेलिंगटन ने नेपोलियन को अंतिम रूप से पराजित कर दिया।

ऑस्टर्लिज़ का युद्ध
(तीन सम्राटों का युद्ध)
(The Battle of Austerlitz or Three Emperors)

वक्त : 1805; स्थान : ऑस्टर्लिज (वर्तमान दक्षिणी चेकोस्लोवाकिया)

जुलाई, 1805 में ब्रिटेन, ऑस्ट्रिया, रूस और प्रशिया ने मिल कर नेपोलियन से टक्कर लेने का निर्णय किया। जवाब में नेपोलियन ने 22 अक्तूबर, 1805 को आक्रमण करके उल्म (Ulm) नामक स्थान पर ऑस्ट्रिया को हराया और वियना पर अधिकार कर लिया। 28 नवम्बर, 1805 के दिन ऑस्टर्लिज़ में नेपोलियन के 65,000 सैनिकों और रूस तथा ऑस्ट्रिया की संयुक्त सेनाओं के 83,000 सैनिकों के बीच भयानक युद्ध हुआ। 2 दिसम्बर को नेपोलियन इस युद्ध में विजयी हुआ। रूस की सेनाओं को घर लौटना पड़ा और ऑस्ट्रिया को शांति-सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। ट्राफलगर युद्ध में पराजय के कारण नेपोलियन समुद्री युद्धों में तो श्रेष्ठता नहीं सिद्ध कर पाया था किन्तु ऑस्टर्लिज़ युद्ध के बाद थल-युद्धों में यूरोप में उसकी श्रेष्ठता अवश्य सिद्ध हो गयी......

नेपोलियन के युद्धों (Napoleonic wars) में ऑस्टर्लिज के युद्ध (The battle of Austerlitz) का विशेष महत्त्व है। इतिहास में इसे तीन सम्राटों का युद्ध (The battle of three emperors) भी कहते हैं क्योंकि इसमें यूरोप के तीन देशो के सम्राटो ने भाग लिया था· फ्रांस के सम्राट नेपोलियन प्रथम ने, रूस के सम्राट जार अलेक्जेंडर प्रथम (Tsar Alexander I) ने तथा ऑस्ट्रिया के सम्राट फ्रासिस द्वितीय (Francis II) ने।

यह युद्ध एक ओर नेपोलियन के अपूर्व युद्ध-कौशल को प्रमाणित करता है तो दूसरी ओर उसके अदम्य साहस को। ट्राफलगर युद्ध (The battle of Trafalgar) में जबरदस्त हार के बावजूद नेपोलियन के साहस में किसी प्रकार की कोई कमी दिखायी नहीं दी। उसने मान लिया था कि ब्रिटेन को पराजित करने के लिए समुद्री बेडों और जलयुद्धो की व्यापक तैयारी करनी पड़ेगी। उसे लगा कि ब्रिटेन का साथ देने वाले ऑस्ट्रिया, प्रशिया और रूस को पहले सबक सिखाया जाये और जब थल पर कोई प्रतिद्वंद्विता नही रह जाये तो बडी तैयारी के साथ ब्रिटेन पर आक्रमण किया जाये। ऑस्टर्लिज युद्ध के द्वारा उसने ऐसा ही किया।

युद्ध का प्रारम्भ

और ट्राफलगर युद्ध के लगभग दो महीने बाद ही नेपोलियन अपने इस अभियान पर निकल पडा। उसने सबसे पहले प्रशिया और ऑस्ट्रिया को सबक सिखाना चाहा। 22 अक्तूबर, 1805 को उसने उल्म (Ulm) नामक स्थान पर ऑस्ट्रिया की सेना को पराजित किया। वास्तव मे यह इकतरफा युद्ध था क्योंकि नेपोलियन की सेनाओं के सामने ऑस्ट्रिया की सेनाओं ने बडी आसानी से घुटने टेक दिये। नेपोलियन ने लगे हाथ वियना (Vienna) पर भी अधिकार कर लिया।

नेपोलियन का वियना की ओर प्रस्थान सुनकर इटली से आर्क ड्यूक चार्ल्स चल दिया। उधर बोहेमिया मे रूसी सेनाएं इकट्ठी हो रही थी। यदि इस समय प्रशिया अपनी पूरी शक्ति के साथ मध्य डैन्यूब की घाटी पर आक्रमण कर देता तो संभवतः नेपोलियन कठिनाई में पड जाता और दोनो ओर की सेनाओं मे जम कर मुकाबला होता परन्तु ऑस्ट्रिया तथा रूस को अपनी शक्ति पर विश्वास था। इसके अलावा, रूस नेपोलियन को पराजित करने का श्रेय स्वय प्राप्त करना चाहता था।

उधर, नेपोलियन इस युद्ध मे अपने राज्याभिषेक (2 दिसम्बर) की पहली वर्षगाठ से पहले ही जीत हासिल कर लेना चाहता था। इसलिए वह दुगुने वेग और उत्साह से लड़ रहा था। 28 नवम्बर को उसकी सेनाएं ऑस्टर्लिज मे ऑस्ट्रिया तथा रूस की सम्मिलित सेनाओ के मुकाबले जा पहुंची।

नेपोलियन की सेना की सख्या 65 हजार तथा ऑस्ट्रिया तथा रूस की सम्मिलित सेनाओ की संख्या 83 हजार थी। युद्ध प्रारम्भ होने पर नेपोलियन ने

फ्रांस का शासक नेपोलियन महान

अपनी अतिरिक्त सेना का भी उपयोग किया। अन्त में 2 दिसम्बर को ऑस्ट्रिया तथा रूस की संयुक्त सेनाएं पराजित हो गयीं। विवश होकर ऑस्ट्रिया के सम्राट को सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी और रूस का सम्राट भाग खड़ा हुआ। इस पराजय का समाचार सुनकर इंग्लैंड के प्रधानमंत्री विलियम पिट को इतना दुख हुआ कि छह सप्ताह पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार, नेपोलियन के विरुद्ध ऑस्ट्रिया, प्रशिया, ब्रिटेन और रूस का संयुक्त मोर्चा समाप्त हो गया।

प्रेसबुर्ग की सन्धि

26 दिसम्बर, 1805 को नेपोलियन ने ऑस्ट्रिया के साथ सन्धि कर ली। यह ऑस्ट्रिया की तीसरी पराजय थी, अतः नेपोलियन ने पूरी तरह ऑस्ट्रिया को कुचलने का प्रयत्न किया। इस सन्धि के अनुसार–

1. *ऑस्ट्रिया ने वेनिस तथा डालमेशिया के प्रदेश फ्रांस को दे दिये।*
2. टाइरोल तथा स्वेबिया के प्रदेश फ्रांस के मित्र बवेरिया को दिये गये।
3. *बवेरिया तथा वर्टमबर्ग के सामंतों को राजा की उपाधि प्रदान की गयी।*
4. बवेरिया, वर्टमवर्ग तथा बैडेन को आसपास के अनेक प्रदेश मिले।

इस सन्धि से ऑस्ट्रिया की प्रतिष्ठा को बहुत ठेस लगी। उसे लगभग तीस लाख जनसंख्या वाले प्रांतों को छोड़ना पड़ा। राइन, इटली तथा स्विटज़रलैंड से भी उसका संबंध टूट गया।

परिणाम

फ्रांस तथा नेपोलियन के लिए यह जीत बहुत ही भव्य थी। इसके पश्चात् पुन: नेपोलियन ने यूरोप-विजय का अभियान शुरू कर दिया और ट्राफलगर युद्ध में पराजय के कारण धूमिल होती छवि को पुनः उत्कर्ष पर पहुंचाया। सदियों से यूरोप में चली आ रही रोमन साम्राज्य की परम्परा 1806 में समाप्त हो गयी। ऑस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस द्वितीय ने ऑस्टर्लिज युद्ध में हार के बाद "पवित्र रोमन समाट" की पदवी इस डर से त्याग दी कि कहीं यह पदवी नेपोलियन को न मिल जाये।

ट्राफलगर का समुद्री युद्ध
(The Naval Battle of Trafalgar)

काल : 1805, स्थान : जिब्राल्टर के निकट ट्राफलगर अन्तरीप

नेपोलियन ने अपने जीवन में ब्रिटेन के साथ दो समुद्री युद्ध किये और दोनों ही बार वह पराजित हुआ। ब्रिटेन के साथ उसकी पहली समुद्री मुठभेड़ 1798 में मिस्र (Egypt) में नील की लड़ाई (The battle of the Nile) मे और दूसरी मुठभेड़ ट्राफलगर के नाम से प्रसिद्ध लड़ाई मे हुई जो इंग्लिश चैनल (English Channel) से लेकर भूमध्यसागर (Mediterranean Sea) के जिब्राल्टर (Gibraltar) के निकट ट्राफलगर अंतरीप मे लड़ी गयी। नील की लड़ाई तब हुई जब नेपोलियन ने मिस्र को जीत कर भारत में पहुंचने और ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देने की योजना बनायी। ट्राफलगर की लड़ाई तब हुई जब नेपोलियन की बढ़ती शक्ति के विरुद्ध 1803 में ब्रिटेन द्वारा घोषित युद्ध को कुचलने के लिए 1805 में नेपोलियन ने अपने समुद्री बेड़ों को ब्रिटेन पर आक्रमण के आदेश दिये... .

नेपोलियन बोनापार्ट 18 मई, 1804 को फ्रास का सम्राट बना और 2 दिसम्बर को उसका औपचारिक राज्याभिषेक समारोह (Coronation ceremony) हुआ। गद्दी पर बैठने के बाद वह पहले अपना ध्यान फ्रास के पुनर्गठन और पुनर्निर्माण मे लगाना चाहता था। उसने आर्थिक और सामाजिक सुधार के लिए कई कार्यक्रम बनाये और उन्हे कार्यान्वित भी किया। वह चाहता था कि फ्रास की आंतरिक स्थिति सुधर जाये और सुदृढ हो जाये तो वह यूरोप-विजय का अभियान आरम्भ करेगा किन्तु ब्रिटेन नेपोलियन के इन इरादो को पहले से ही समझ चुका था
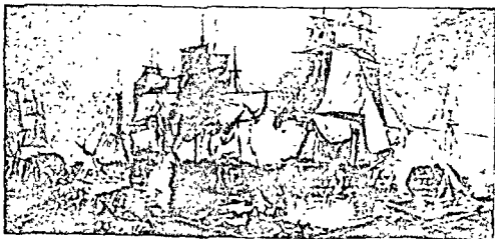
समुद्री युद्ध का एक दृश्य
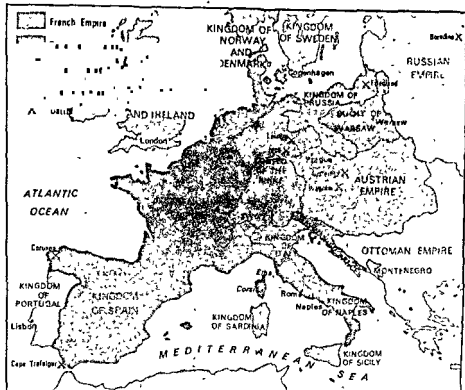
और उसके सामने यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि नेपोलियन की बढती शक्ति ब्रिटेन के लिए खतरनाक सिद्ध होगी। चूंकि नेपोलियन अपनी आंतरिक स्थिति को सुदृढ बनाना चाहता था, उसने 1802 में कई वर्षों से चले आ रहे झगडो को समाप्त करके ब्रिटेन के साथ शांति की सन्धि कर ली। दूसरी ओर, ब्रिटेन ने पहले तो सन्धि मान ली लेकिन बाद मे 1803 मे फ्रास के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

आखिर नेपोलियन ने ब्रिटेन को पराजित करने के लिए उस पर आक्रमण करने का निर्णय लिया। उसने इंग्लिश चैनल के फ्रांसीसी तटवर्ती बुलोगने (Boulogne) नामक स्थान पर इसके लिए अपनी सेनाए भी तैयार कर ली। किन्तु समुद्री युद्धो में ब्रिटेन को श्रेष्ठता प्राप्त थी और जब तक ब्रिटिश बेडो को ब्रिटेन के तटो से हटाया नही जाता या नष्ट नहीं कर दिया जाता, तब तक ब्रिटेन को जीतना असभव ही था। इसलिए यह आवश्यक हो गया कि किसी भी तरह ब्रिटेन के नौसैनिक बेडो को इग्लिश चैनल से दूर ले जाये।

इसी उद्देश्य से फ्रांसीसी और स्पेनी नौसैनिक बेडो को वेस्ट इंडीज (West Indies) की ओर रवाना होने का आदेश दिया गया। फ्रांस को आशा थी कि फ्रांसीसी-स्पेनी बेडो के पीछे-पीछे ब्रिटिश नौसैनिक बेड़े भी निकल पड़ेंगे और तब ब्रिटेन पर आक्रमण करने में आसानी होगी। किन्तु हुआ ठीक इसके विपरीत। वेस्ट इंडीज की ओर जा रहे फ्रांसीसी-स्पेनी बेड़ो पर घात लगाये रास्ते में छुपे ब्रिटिश

ब्रिटिश नौसेना का महान योद्धा नेलसन

नौसैनिक वेड़ो ने अचानक आक्रमण कर दिया। इस अचानक आक्रमण मे विशाल फ्रांसीसी-स्पेनी बेड़ों मे से एडमिरल विलेयूवे (Admiral Villeneuve) के नेतृत्व मे केवल 33 जहाज ही बचे रह सके। शेष बेडो का पीछा ब्रिटिश एडमिरल होराशियो नेलसन (Admiral Horatio Nelson) ने विक्टरी (Victory) नामक जहाज पर किया।

तब नेपोलियन ने फ्रांसीसी-स्पेनी बेडो को भूमध्यसागर मे जिब्राल्टर के निकट ट्राफलगर अंतरीप में लौट जाने का आदेश दिया। यही ब्रिटिश एडमिरल नेलसन ने उन फ्रांसीसी-स्पेनी बेडों पर आक्रमण कर दिया।

युद्ध का प्रारम्भ

21 अक्तूबर, 1805 की सुबह ट्राफलगर मे फ्रांसीसी एडमिरल विलेंयूवे के नेतृत्व वाले फ्रासीसी-स्पेनी बेडे पर ब्रिटिश एडमिरल लॉर्ड नेलसन के नेतृत्व में ब्रिटिश जहाजी बेडे ने आक्रमण कर दिया। नेलसन और विलेंयूवे, दोनों ही जानते थे कि यूरोप का भविष्य इस युद्ध के परिणाम पर निर्भर है। इसलिए दोनो ही बडी सूक्ष्मता से रणनीति तैयार करना चाहते थे।

विलेयूवे ने अपने बेड़े को दोहरी पंक्ति में व्यवस्थित किया था। नेलसन ने भी इसी क्रम से अपने बेडो को व्यवस्थित किया किन्तु मारक और तेज गति के आठ जहाजों को 'अग्रिम दल' के रूप मे रखा।

नेलसन अपने जहाज के डेक पर खड़ा होकर शत्रु की गतिविधियां देखता और उसी के अनुसार अपने बेड़े को निर्देश देता रहा। जैसे-जैसे लड़ाई शुरू करने का समय निकट आने लगा, वह बेसब्री से डेक पर घूमने लगा। वह एडमिरल की वर्दी में था, जिस पर लगे पदक चमक रहे थे। शत्रु पर निर्णायक आक्रमण करते

सप्तवर्षीय युद्ध
(Seven Years' War)

काल 1756 1763, स्थान : यूरोप, उत्तरी अमरीका, भारत

सात वर्षों तक चलने वाले इस युद्ध में एक ओर आस्ट्रिया, फ्रांस, रूस, सैक्सोनी, स्वीडन तथा स्पेन और दूसरी तरफ ब्रिटेन, प्रशिया तथा हेनोवर थे। इन देशों के बीच इस युद्ध के छिड़ने के मुख्य कारण थे—यूरोप में अपने को सबसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध करना और बाहरी उपनिवेशों पर प्रभुत्व जमाना। युद्ध का आरम्भ अगस्त, 1756 में प्रशिया के सम्राट महान फ्रेडरिक द्वारा सैक्सोनी पर आक्रमण से हुआ। युद्ध की समाप्ति 1763 में ह्यूबर्ट्सबर्ग (Hubertusburg) तथा पेरिस की सन्धियों से हुई और प्रशिया एवं ब्रिटेन का प्रभुत्व स्थापित हो गया। ब्रिटेन को फ्रांस के विरुद्ध परम्परागत औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता में कनाडा में क्यूबेक तथा भारत में प्लासी की लड़ाइयों में अभूतपूर्व सफलता मिली... ...

यूरोपीय देशों के बीच लड़े गये इस युद्ध को औपनिवेशिक होड़ का संघर्ष कहा जा सकता है। 18वीं शताब्दी में यूरोपीय देशों के बीच अधिक से अधिक उपनिवेश हासिल करने की प्रतिद्वंद्विता थी, जिसके परिणामस्वरूप यह युद्ध हुआ। इस युद्ध में एक ओर फ्रांस, ऑस्ट्रिया, रूस, सेक्सोनी, स्वीडन तथा स्पेन थे और दूसरी ओर ब्रिटेन, प्रशिया तथा हेनोवर।

युद्ध का एक दृश्य

उसकी पैदल सेना ने फ्रासीसियों की घुडसवार सेना को तितर-बितर कर दिया है। दूसरे वर्ष उसकी सेना ने ऑस्ट्रियाई सेना को फिर दो जगह हराया परन्तु तब तक वह जन-धन से खाली हो चुका था। ब्रिटेन के जॉर्ज द्वितीय की मृत्यु तथा विलियम पिट के अलग होने से दलीलें दी जाने लगीं कि ब्रिटेन प्रशिया के लिए लड़कर धन-जन का नाश कर रहा है। अतः ब्रिटेन ने फ्रास से सन्धि की बातचीत आरम्भ कर दी। इधर, रूस की रानी एलेक्जेड्रा की मृत्यु से फ्रेडरिक के लिए रूस का भी आतंक जाता रहा क्योकि रूस की गद्दी पर पीटर द्वितीय बैठा, जो फ्रेडरिक के गुणों तथा वीरत्व का प्रशसक था। उसने युद्ध-क्षेत्र से अपनी सेना हटा ली। इसी बीच अमरीका तथा भारत में अंग्रेज विजयी हुए। 1758 मे लुईबर्ग, 1759 में क्यूबेक और 1760 में मांट्रियाल अंग्रेजो ने ले लिये। अब युद्ध-क्षेत्र मे केवल प्रशिया और ऑस्ट्रिया रह गये। हिंसा और वैमनस्य की थकान से टूटकर अन्ततः उन्होने भी परस्पर सन्धि कर ली।

1763 में पेरिस में फ्रास और ब्रिटेन के बीच सन्धि हुई, जिसमें अंग्रेजों को मिनोर्की, नोवा स्काटिया और कनाडा मिले और मद्रास भी उन्हे वापस मिला। सेट लूसिया, पाडिचेरी और चन्द्रनगर फ्रांसीसियों को वापस मिले। ऑस्ट्रिया और प्रशिया के बीच मे ह्यूबर्ट्सबर्ग में सन्धि हुई, जिसके अनुसार सिलेशिया प्रशिया के ही अधिकार में रहा परन्तु उसने सैक्सोनी से अपनी सेनाए हटा ली।

परिणाम

इस युद्ध ने एशिया, अफ्रीका और अमरीका के नये-नये देशों को जीत कर उपनिवेश बनाने की भावना को सुदृढ किया और ब्रिटेन सर्वाधिक शक्तिशाली उपनिवेशवादी देश के रूप मे उभर कर सामने आया। ब्रिटेन ने अमरीका, कनाडा तथा भारत जैसे देशों पर अपना प्रभुत्व जमाकर फ्रास की शक्ति को क्षीण कर दिया।

इस युद्ध से प्रशिया भी ऑस्ट्रिया के बराबर हो गया। अब जर्मनी मे समान बल के दो राज्य हो गये जो जर्मनी के नेतृत्व तथा अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शन के लिए लडने लगे। फ्रांस बरबाद हो गया। उसके बहुत से स्थान छिनने के कारण यूरोप की प्रमुख शक्तियों में उसकी गिनती भी नहीं रही। दूसरे, प्रशिया का भाग्य भी तेज था। यह उसका भाग्य था कि रूस की रानी एलेक्जेंड्रा की मृत्यु हो गयी। कनाडा से फ्रांस के हट जाने से अमरीका मे रहने वालों को फ्रांस का डर जाता रहा और उन्होंने थोड़े ही दिनों मे लड़ कर अंग्रेजों से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।

उसकी पैदल सेना ने फ्रांसीसियों की घुड़सवार सेना को तितर-बितर कर दिया है। दूसरे वर्ष उसकी सेना ने ऑस्ट्रियाई सेना को फिर दो जगह हराया परन्तु तब तक वह जन-धन से खाली हो चुका था। ब्रिटेन के जॉर्ज द्वितीय की मृत्यु तथा विलियम पिट के अलग होने से दलीलें दी जाने लगी कि ब्रिटेन प्रशिया के लिए लडकर धन-जन का नाश कर रहा है। अतः ब्रिटेन ने फ्रास से सन्धि की बातचीत आरम्भ कर दी। इधर, रूस की रानी एलेक्जेड्रा की मृत्यु से फ्रेडरिक के लिए रूस का भी आतक जाता रहा क्योंकि रूस की गद्दी पर पीटर द्वितीय बैठा, जो फ्रेडरिक के गुणो तथा वीरत्व का प्रशसक था। उसने युद्ध-क्षेत्र से अपनी सेना हटा ली। इसी बीच अमरीका तथा भारत में अंग्रेज विजयी हुए। 1758 मे लुईबर्ग, 1759 मे क्यूबेक और 1760 में माट्रियाल अंग्रेजो ने ले लिये। अब युद्ध-क्षेत्र मे केवल प्रशिया और ऑस्ट्रिया रह गये। हिसा और वैमनस्य की थकान से टूटकर अन्ततः उन्होने भी परस्पर सन्धि कर ली।

1763 में पेरिस में फ्रास और ब्रिटेन के बीच सन्धि हुई, जिसमे अंग्रेजो को मिनोकी, नोवा स्कोटिया और कनाडा मिले और मद्रास भी उन्हे वापस मिला। सेट लूसिया, पाडिचेरी और चन्द्रनगर फ्रासीसियो को वापस मिले। ऑस्ट्रिया और प्रशिया के बीच में ह्यूबर्ट्सबर्ग में सन्धि हुई, जिसके अनुसार सिलेशिया प्रशिया के ही अधिकार में रहा परन्तु उसने सैक्सोनी से अपनी सेनाएं हटा लीं।

परिणाम

इस युद्ध ने एशिया, अफ्रीका और अमरीका के नये-नये देशो को जीत कर उपनिवेश बनाने की भावना को सुदृढ़ किया और ब्रिटेन सर्वाधिक शक्तिशाली उपनिवेशवादी देश के रूप मे उभर कर सामने आया। ब्रिटेन ने अमरीका, कनाडा तथा भारत जैसे देशों पर अपना प्रभुत्व जमाकर फ्रांस की शक्ति को क्षीण कर दिया।

इस युद्ध से प्रशिया भी ऑस्ट्रिया के बराबर हो गया। अब जर्मनी मे समान बल के दो राज्य हो गये जो जर्मनी के नेतृत्व तथा अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शन के लिए लडने लगे। फ्रास बरबाद हो गया। उसके बहुत से स्थान छिनने के कारण यूरोप की प्रमुख शक्तियो मे उसकी गिनती भी नहीं रही। दूसरे, प्रशिया का भाग्य भी तेज था। यह उसका भाग्य था कि रूस की रानी एलेक्जेंड्रा की मृत्यु हो गयी। कनाडा से फ्रास के हट जाने से अमरीका मे रहने वालो को फ्रांस का डर जाता रहा और उन्होंने थोडे ही दिनो मे लड कर अंग्रेजो से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।

ऑस्ट्रिया की रानी मारिया थेरेसा (Maria Theresa, 1717-1780) एक ऐसे देश की मित्रता चाहती थी जो प्रशिया का शत्रु हो, क्योंकि वह सिलेशिया (Silesia) को प्रशिया से वापस लेना चाहती थी। 1740 में जब ऑस्ट्रिया में गद्दी के उत्तराधिकारी का झगड़ा (The war of Austrian Succession) छिड़ा था तो प्रशिया ने ऑस्ट्रिया से सिलेशिया छीन लिया था। उधर फ्रास अपने पड़ोसी देश प्रशिया की उन्नति से डरता था। उसे भी अपने समुद्री व्यापार तथा उपनिवेशों के विस्तार और ब्रिटेन से औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता के लिए ऐसे ही मित्र की तलाश थी। इसलिए दोनों 200 वर्ष पुरानी शत्रुता को भूलकर मित्र बन गये। इस तरह एक ओर ऑस्ट्रिया और फ्रास मिले तथा दूसरी ओर ब्रिटेन और प्रशिया।

इस समय यूरोप के बाहर अमरीका और भारत दोनों ही देशों में उपनिवेशों को लेकर फ्रास और ब्रिटेन में खूब शत्रुता चल रही थी। ऑस्ट्रिया के मुंह मोड़ने पर ब्रिटेन के राजा जॉर्ज द्वितीय (King George II) ने प्रशिया के सम्राट महान फ्रेडरिक (Frederick the Great) से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार फ्रेडरिक ने जॉर्ज की मातृभूमि हेनोवर की रक्षा का वचन दिया। जॉर्ज को इग्लैंड से भी अधिक हेनोवर की चिंता थी क्योंकि वह वहां का अधिकार प्राप्त राजकुमार (Elector of Hanover) था और वहीं से उसके पिता को इग्लैंड की गद्दी पर बैठने के लिए आमंत्रित किया गया था। इस प्रकार ब्रिटेन और प्रशिया में मैत्री हो गयी।

1756 मे ऑस्ट्रिया-फ्रास मित्रता की बात सुन कर फ्रेडरिक फौरन सैक्सोनी (Saxony) पहुचा और वहा की सेना को हरा कर वहा के लोगो को अपनी सेना में भर्ती करने लगा। ऑस्ट्रियाई सेना पहले युद्ध मे बड़ी वीरता से लडी परन्तु हार गयी। दूसरे वर्ष फ्रेडरिक ने बोहेमिया (Bohemia) पर आक्रमण किया और वहा की राजधानी पर अधिकार करने ही वाला था कि उसकी सेना का एक हिस्सा कोलिन नामक स्थान पर हार गया और उसे सैक्सोनी लोटना पडा। इस समय तक स्वीडन तथा रूसी सेना भी प्रशिया के विरुद्ध लड़ने के लिए पूर्वी प्रशिया तक आ चुकी थी तथा जर्मनी और फ्रास की सम्मिलित सेना और भी पास आ पहुची थी। विपत्ति के ऐसे पलो मे बिना घबराये फ्रेडरिक ने एक पहाडी से छिपकर फ्रासीसियो पर वार किया। फिर झट लौट कर ऑस्ट्रियाई सेना को लूथन स्थान पर (1757 में) हरा दिया। इधर, फ्रास ने अंग्रेजो को हराकर हेनोवर ले लिया। ब्रिटेन के चतुर तथा दूरदर्शी प्रधानमंत्री विलियम पिट ने युद्ध की नाजुकता को देखते हुए अपनी सेना का एक बडा भाग समुद्री व्यापार की रक्षा के लिए फ्रास के विरुद्ध लड़ने के लिए रहने दिया तथा प्रशिया को भरपूर आर्थिक मदद देता रहा। यही नही, उसने सेना भेजकर फ्रांस से हेनोवर भी वापस ले लिया।

दूसरे वर्ष रूसियो ने फ्रेडरिक की सेना को बुरी तरह हरा दिया और ऑस्ट्रियाई सेना ड्रेस्डन पर अधिकार करके उसकी ओर बढने लगी। फ्रेडरिक ने कुंठा से आत्महत्या करने का भी विचार किया परन्तु इसी बीच उसे ज्ञात हुआ कि

उसकी पैदल सेना ने फ्रांसीसियों की घुड़सवार सेना को तितर-वितर कर दिया है। दूसरे वर्ष उसकी सेना ने ऑस्ट्रियाई सेना को फिर दो जगह हराया परन्तु तब तक वह जन-धन से खाली हो चुका था। ब्रिटेन के जॉर्ज द्वितीय की मृत्यु तथा विलियम पिट के अलग होने से दलीलें दी जाने लगी कि ब्रिटेन प्रशिया के लिए लड़कर धन-जन का नाश कर रहा है। अतः ब्रिटेन ने फ्रास से सन्धि की बातचीत आरम्भ कर दी। इधर, रूस की रानी एलेक्जेड्रा की मृत्यु से फ्रेडरिक के लिए रूस का भी आतंक जाता रहा क्योंकि रूस की गद्दी पर पीटर द्वितीय बैठा, जो फ्रेडरिक के गुणों तथा वीरत्व का प्रशसक था। उसने युद्ध-क्षेत्र से अपनी सेना हटा ली। इसी बीच अमरीका तथा भारत में अंग्रेज विजयी हुए। 1758 मे लुईबर्ग, 1759 में क्यूबेक और 1760 में माट्रियाल अग्रेजो ने ले लिये। अब युद्ध-क्षेत्र मे केवल प्रशिया और ऑस्ट्रिया रह गये। हिंसा और वैमनस्य की थकान से टूटकर अन्ततः उन्होंने भी परस्पर सन्धि कर ली।

1763 मे पेरिस में फ्रांस और ब्रिटेन के बीच सन्धि हुई, जिसमे अग्रेजो को मिनोर्की, नोवा स्कोटिया और कनाडा मिले और मद्रास भी उन्हें वापस मिला। सेंट लूसिया, पाडिचेरी और चन्द्रनगर फ्रासीसियो को वापस मिले। ऑस्ट्रिया और प्रशिया के बीच में ह्यूबर्ट्सबर्ग में सन्धि हुई, जिसके अनुसार सिलेशिया प्रशिया के ही अधिकार में रहा परन्तु उसने सैक्सोनी से अपनी सेनाए हटा ली।

परिणाम

इस युद्ध ने एशिया, अफ्रीका और अमरीका के नये-नये देशों को जीत कर उपनिवेश बनाने की भावना को सुदृढ किया और ब्रिटेन सर्वाधिक शक्तिशाली उपनिवेशवादी देश के रूप में उभर कर सामने आया। ब्रिटेन ने अमरीका, कनाडा तथा भारत जैसे देशों पर अपना प्रभुत्व जमाकर फ्रांस की शक्ति को क्षीण कर दिया।

इस युद्ध से प्रशिया भी ऑस्ट्रिया के बराबर हो गया। अब जर्मनी मे समान बल के दो राज्य हो गये जो जर्मनी के नेतृत्व तथा अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शन के लिए लड़ने लगे। फ्रांस बरबाद हो गया। उसके बहुत से स्थान छिनने के कारण यूरोप की प्रमुख शक्तियों मे उसकी गिनती भी नही रही। दूसरे, प्रशिया का भाग्य भी तेज था। यह उसका भाग्य था कि रूस की रानी एलेक्जेड्रा की मृत्यु हो गयी। कनाडा से फ्रास के हट जाने से अमरीका मे रहने वालो को फ्रास का डर जाता रहा और उन्होंने थोडे ही दिनो मे लड़ कर अंग्रेजों से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली।

तीसवर्षीय युद्ध
(Thirty Years' War)

काल 1618-1648, स्थान बोहेमिया (वर्तमान चेकोस्लोवाकिया का एक हिस्सा), यूरोप के कई देश

यूरोप में धार्मिक मतभेदों, विशेष रूप से, कैथोलिकों (Catholics) तथा प्रोटेस्टेंटों (Protestants) के बीच मतभेदों के कारण हुए युद्धों में यह भी एक है। इस युद्ध का आरम्भ 1618 में तब हुआ जब पवित्र रोमन साम्राज्य के प्रोटेस्टेंट धर्मावलंबियों वाले बोहेमिया राज्य के चेक निवासियों ने कैथोलिक धर्म में आस्था रखने वाले ऑस्ट्रियाई मूल के फर्डिनेंड द्वितीय (Ferdinand II) को अपना शासक मानने से इनकार कर दिया। इसके बाद यह युद्ध धीरे-धीरे राजनैतिक स्वरूप लेने लगा जब अपने-अपने लाभ के लिए यूरोप के कई अन्य देश धर्म के बहाने एक-दूसरे के विरुद्ध सेनाएं भेजने लगे। इस प्रकार 30 वर्षों तक चलते रहने वाले इस युद्ध की समाप्ति 1648 में वेस्टफेलिया की संधि से हुई.

सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप के देशों में शक्ति संतुलन का व्यापक संघर्ष चला। जर्मन इतिहासकारों ने इसे 'तीस वर्षीय युद्ध' का नाम दिया और इसका काल 1618 से 1648 तक निर्धारित किया। उन्होंने इसे धार्मिक कारणों से लड़े गये युद्धों के रूप में चित्रित किया। यद्यपि इन युद्धों को आज भी 'तीस वर्षीय युद्ध' के नाम से ही जाना जाता है किन्तु अब अधिकांश इतिहासकार इनका काल-निर्धारण 1610 से 1660 तक करते हैं और इन्हें पचास वर्षों तक लड़े गये अलग-अलग उद्देश्यों वाले युद्ध मानते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन युद्धों के पीछे धार्मिक कारण (जर्मन प्रोटेस्टेंटों तथा कैथोलिकों के बीच विवाद) थे किन्तु वैधानिक तथा राजनैतिक प्रश्नों (Constitutional and Political Questions) की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि धार्मिक, राजनैतिक, वैधानिक तथा आर्थिक कारणों में कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है और कौन कम महत्त्वपूर्ण है, यह बताना लगभग असंभव ही है। हां, यह जरूर है कि धार्मिक प्रश्नों ने इन युद्धों के पीछे सैद्धांतिक और प्रचारात्मक आधारों का काम किया।

यदि हम मान लें कि 'तीस वर्षीय युद्ध' 1648 में वेस्टफेलिया की संधि के साथ समाप्त हो गया तो इन तीस वर्षों में कम से कम दस युद्ध लड़े गये.

1. ज्यूलिख के उत्तराधिकार का युद्ध (War of the Julich succession, 1609-14) 2. बोहेमियाई और पेलेटाइन युद्ध (Bohemian and Palatine War, 1618-23) 3. ग्राउब्यूनडेन की लड़ाई (Struggle for Graubunden, 1620-39) 4. स्वीडन और पोलेंड का युद्ध (Swedish-

कैथोलिक लीग के सैनिक अफसर वेलेंस्टाइन की हत्या
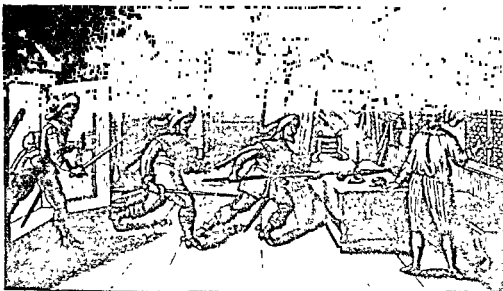
Polish War, 1621-29) 5. डेनिश युद्ध और प्रत्यानयन का आदेश (Danish War and the Edict of Restitution, 1625-29) 6 मेटोवा का उत्तराधिकार-युद्ध, (War of the Mantuav succession, 1628-31) 7. स्वीडिश युद्ध और प्राग की शाति-सन्धि (Swedish War and Peace of Prague, 1630-35) 8. स्मोलेस्क का युद्ध, (War of Smolensk, 1632-34) 9. फ्रांसीसी-स्वीडिश युद्ध, (Franco-Swedish War, 1635-48) और 10. स्वीडिश-डेनिश युद्ध, (Swedish-Danish War, 1643-45)

1648 मे वेस्टफेलिया की सन्धि तो अवश्य हुई किन्तु इन्ही युद्धो की शृखला मे दो अन्य युद्ध भी लड़े गये: फ्रांसीसी-स्पेनी युद्ध (Franco-Spanish War, 1648-59) और प्रथम उत्तरी युद्ध (First Northern War, 1655-60)

सुविधा के लिए इन युद्धों को चार चरणो में भी विभाजित किया जाता है: 1. पैलेटाइन, 2. डेनिश, 3. स्वीडिश तथा 4. फ्रासीसी।

पैलेटाइन चरण

पैलेटाइन चरण युद्ध के प्रारम्भ होने से पाच वर्ष बाद तक (1623) माना जाता है। इस चरण मे प्रोटेस्टेट ऐक्य के अध्यक्ष फ्रेडरिक की हार हुई। सम्राट फर्डिनेंड ने बवेरिया के राजा मेक्सीमीलियन तथा कैथोलिक सघ की सहायता से प्रोटेस्टेट दल पर आक्रमण किया। फ्रेडरिक के कमजोर नेतृत्व तथा लापरवाही के कारण 1620 में प्राग के पास उसकी पराजय हुई। फलतः उसे देश से निर्वासित कर दिया गया तथा प्रोटेस्टेट ऐक्य विखडित हो गया। धीरे-धीरे कैथोलिक मत वालो के अत्याचारो को देखकर प्रोटेस्टेट एकजुट होने लगे तथा उन्होंने डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ तथा इग्लैड को सहायता के लिए प्रार्थना की।

डेनिश चरण

डेनमार्क के रणक्षेत्र मे कूदने से युद्ध का दूसरा चरण 1624 से प्रारम्भ हुआ। कैथोलिक लीग के प्रसिद्ध जनरल टिली और अन्य सैनिक अफसर वेलेंस्टाइन की सहायता से सम्राट फर्डिनेंड ने प्रोटेस्टेट मत वालो को कई स्थानो पर हराया। 1625 मे हैप्सबर्ग की शक्ति से डरते हुए डेनमार्क ने उत्तरी जर्मनी पर आक्रमण कर दिया किन्तु 1629 मे उसे पराजित होना पड़ा। सम्राट फर्डिनेंड द्वितीय को सभी अधिकृत क्षेत्र रोमन कैथोलिक चर्च को लौटाने पर सहमत होना पड़ा।

स्वीडिश चरण

1630 मे स्वीडन के राजा गुस्तावस अडॉल्फ्स ने फर्डिनेड के विरुद्ध प्रोटेस्टेट जर्मन राज्यो का नेतृत्व किया किन्तु 1632 मे लुटजन के युद्ध मे चारो ओर घिरे कुहरे मे शत्रु की गोलियो से घायल होकर वह गिर पडा और मर गया।

फ्रांसीसी चरण

1635 तक आते-आते जर्मनी ने स्वीडन को समर्थन देना बद कर दिया। वेलेंस्टाइन की सेनाए भी पीछे हट गयीं किन्तु इसी समय रिचल्यू के नेतृत्व में फ्रास के हस्तक्षेप से युद्ध का रुका हुआ सिलसिला फिर से शुरू हुआ।
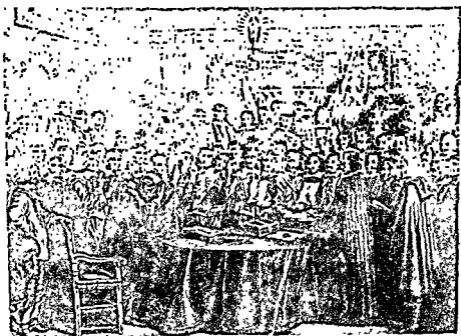
वेस्टफेलिया की सन्धि, 1648

रिचंल्यू के साथ इस चरण में इटली, हॉलैंड, स्वीडन के सैनिक थे। स्वीडन के जनरल वरनार्ड तथा डच लोगो ने मिलकर सम्राट तथा स्पेन की सेना को कई बार हराया। इसी दौरान बरनार्ड, रिचल्यू तथा फ्रांस के शासक लुई तेरहवां की मृत्यु हो गयी।

1637 में फर्डिनेंड द्वितीय की मृत्यु के बाद फर्डिनेंड तृतीय सम्राट हुआ। 1640 में शांति वार्ताएं प्रारम्भ हुईं किन्तु सन्धि न हो सकी। फ्रांस के जनरल कोण्डी तथा ट्यूरेन के नेतृत्व में सेना ने सम्राट की सेना को फ्रीवर्ग (1642), नार्डिगन (1645) और लेंस (1648), आदि कई स्थानो पर हराया। अन्ततः 1648 मे वेस्टफेलिया की सन्धि के साथ युद्धविराम हुआ।

परिणाम

यूरोप के इतिहास में इस सन्धि से धर्म संशोधन का काल समाप्त हो गया। ऑग्सबर्ग की सन्धि के अनुसार राजकुमारो को अपने राज्यों का धर्म नियत करने का अधिकार दे दिया गया। कैथोलिक, लूथर तथा काल्विन, आदि सभी मतावलंबियों को बराबरी का अधिकार दिया गया। सभाओ आदि मे भी उनकी संख्या बराबर नियत की गयी। कैथोलिक-प्रोटेस्टेट मतों की जब्त की गयी संपत्ति वापस लौटा दी गयी।

जर्मन एकीकरण की बात समाप्त हो गयी। ब्रेडनबर्ग, बवेरिया, सैक्सोनी तथा अन्य छोटी-छोटी लगभग 350 रियासतो को पूर्ण स्वतन्त्रता मिली। अपने से संबंधित प्रत्येक कार्य का निर्णय करने का दायित्व भी उन्हें सौप दिया गया। फलतः सम्राट नाममात्र के लिए रह गया।

आलसेस तथा लॉरेन दोनों प्रांत फ्रांस के अधिकार में रहे परन्तु इसका झगड़ा फ्रांस तथा जर्मनी के बीच रुक-रुक कर अनेक वर्षों तक चलता रहा।

युद्ध तथा अकालों के कारण जर्मनी की आबादी एक-तिहाई अर्थात 3 करोड़ से घटकर केवल एक करोड़ 20 लाख रह गयी। इसके अलावा कृषि, उद्योग, साहित्य, कला, विज्ञान, आदि सबका ह्रास हुआ।

गुलाब युद्ध
(The Wars of the Roses)

काल : 1455-1485;   स्थान : ब्रिटेन

पन्द्रहवीं शताब्दी में ब्रिटेन में भयानक गृहयुद्ध हुए। इनकी शुरुआत तब हुई जब ब्रिटेन का तत्कालीन शासक हेनरी षष्ठ (Henry VI, 1421-71) पागल हो गया और गद्दी पर बैठने के लिए दो राजवंशों-लैनकास्टर (Lancaster) और यॉर्क (York) के बीच झगड़े होने लगे। इन युद्धों को 'गुलाब युद्ध' इसलिए कहते हैं क्योंकि दोनों वंशों के प्रतीक-चिह्न गुलाब थे: लैनकास्टर का लाल गुलाब और यॉर्क का सफेद गुलाब। तीस वर्ष लम्बे इन युद्धों में अंतिम विजय लैनकास्टर के हेनरी ट्यूडर की हुई जिसने एक नये राजवंश की स्थापना की. ..

यह ब्रिटेन के सिंहासन के लिए लैनकास्टर और यॉर्कवंशियों के बीच एक संघर्ष था। लैनकास्टरवंशी एडवर्ड तृतीय के तीसरे पुत्र जॉन ऑफ गौंट, ड्यूक ऑफ लैनकास्टर के वंशज थे। यॉर्कवंशी एडवर्ड तृतीय के चौथे पुत्र के वंशज थे परन्तु विवाह संबंध के नाते से, दूसरे पुत्र से प्राप्त अधिकार भी रखते थे। इस प्रकार इनका दावा लैनकास्टर वंश की अपेक्षा अधिक मजबूत था परन्तु 1399 में लैनकास्टर का वंश सिंहासनारूढ़ हो चुका था और कानून के अनुसार एडवर्ड तृतीय के अन्य सभी वंशजों के दावों को पृथक कर दिया गया था।

रिचर्ड—ड्यूक ऑफ यॉर्क (Duke of York) दूसरे और चौथे पुत्र के वंशों का प्रतिनिधित्व करता था। लैनकास्टर वंश का प्रतिनिधि था—हेनरी षष्ठ, जो उस समय राजा था और एक व्यक्ति था—एडमंड-ड्यूक ऑफ समरसैट (Duke of Somerset) जो ब्योफोर्ट (Beaufort) वंश का प्रतिनिधि था। यह परिवार एडवर्ड तृतीय के तीसरे पुत्र के वंशज थे—जो पुत्र एक अवैध विवाह से उत्पन्न हुआ था। ड्यूक ऑफ यॉर्क ने हेनरी षष्ठ और ड्यूक ऑफ समरसैट के विरुद्ध सिंहासन पर दावा किया। इसी कारण युद्ध छिड़ गया।

शतवर्षीय युद्ध ने बैरनों और सैनिकों में अव्यवस्था, क्रूरता, अनुशासनहीनता और विधिहीनता पैदा कर दी थी। हेनरी षष्ठ एक निर्बल राजा था। *व्यवस्था और विधि के सही पालन न होने से बैरनों को नियंत्रित कर पाना* असंभव हो गया था। वे अपने निजी सैनिक रखने लगे थे, जिनको सहचर (retainers) कहते थे। ये सैनिक बैरनों द्वारा किये गये उपद्रवों और सख्तियों के साधन होते थे। ये बैरन ज्यूरियों और जजों को डर दिखाते और इस प्रकार अपने मित्रों और सहचरों को कानूनी सजा से बचाते थे। इस बुराई को 'वर्दी और रक्षा' (Livery and Maintenance) कहते थे। इसने देश में व्यवस्था और विधि को पंगु बना दिया और राजा का शासन-प्रबंध चलाना विफल हो गया।

हेनरी का कोई अपना पुत्र न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् सिंहासन मिलना था या तो ड्यूक ऑफ समरसैट को या ड्यूक ऑफ यॉर्क को। अगस्त, 1454 में हेनरी षष्ठ पागल हो गया किन्तु दो माह पश्चात् ही रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। अतः दोनों के अवसर नष्ट हो गये किन्तु यॉर्क बृहत् परिषद् के नियंत्रण को प्राप्त करने में सफल हो गया और समरसैट को गिरफ्तार कर लिया गया। यॉर्क ने स्वयं को संरक्षक (Protector) बना लिया। अगले ही वर्ष राजा स्वस्थ हो गया। यॉर्क को संरक्षक पद से हटा दिया गया और समरसैट को रिहा कर दिया गया। मई, 1455 में रानी ने लैनकास्टरवंशीय आमात्यो (Nobles) को इकट्ठा कर राजा की रक्षा करने के लिए कहा। इधर, ड्यूक ऑफ यॉर्क ने युद्ध आरम्भ कर दिया।

गुलाब युद्ध की प्रमुख लड़ाइयां

पहली लड़ाई सेंट ऐलबंस पर मई, 1455 में हुई। यॉर्क जीता, समरसैट मारा गया, राजा को बंदी बना लिया। 1459 मे ब्लोर हीथ की लड़ाई मे लैनकास्टरवंशी फिर हारे। उसी वर्ष लुडलो (Ludlow) की लड़ाई में यॉर्किस्ट हारे। जुलाई, 1460: यॉर्किस्ट लौटे और नार्थेम्पटन (Northampton) की लड़ाई में लैनकास्टरवशी हारे। दिसम्बर, 1460 · यॉर्क और सैलिस्बरी को बंदी राजा की रानी ने वेकफ़ील्ड (Wakefield) की लडाई में हराया और दोनों का कत्ल कर दिया। फिर फरवरी, 1461 की सेंट ऐलबंस की दूसरी लडाई मे वारविक को हरा अपने पति को छुड़ाया। फरवरी, 1461: मार्टिमर्स क्रास (Mortimer's Cross) की लड़ाई में यॉर्क-पुत्र ने लैनकास्टरवशियों को हराया। 1461 · एडवर्ड और वारविक ने लंदन पर कब्ज़ा कर लिया तथा एडवर्ड स्वय एडवर्ड IV के नाम से राजा बना। इसी वर्ष टौटन (Towton) की सबसे बडी लड़ाई हुई, जिसमें लैनकास्टर बुरी तरह से हारे। राजा, रानी और प्रिंस ऑफ वेल्ज इंग्लैंड से भाग गये।

हैक्सम (Hexam) की लड़ाई (1464) में लैनकास्टर फिर वारविक से हारे। 1465 में हेनरी षष्ठ फिर पकडा गया और लंदन लाया गया। 1469. ऐजकोट फील्ड (Edgecotefield) की लड़ाई में वारविक ने एडवर्ड IV को हरा कर बंदी बना लिया। मार्च, 1470: लोसकोट फील्ड (Losecotefield) की लड़ाई; वारविक हार कर फ्रास भाग गया और लैनकास्टरवशियों से जा मिला। सितम्बर में इंग्लैंड पर आक्रमण कर दिया। सेना के असहयोग के कारण एडवर्ड बचकर फ्रांस भाग पडा। वारविक हेनरी षष्ठ के नाम पर इंग्लैंड का स्वामी बन बैठा। अप्रैल, 1471 मे बारनेट (Barnet) की लडाई मे वारविक मारा गया। मई माह मे एडवर्ड ने ट्यूकसबरी (Tewkesbury) की लडाई मे रानी मार्गरेट को हराया। प्रिंस ऑफ वेल्ज मारा गया। बाद मे हेनरी की भी जेल मे मृत्यु हो गयी।

एडवर्ड ने 1483 मे अपनी मृत्यु तक शांति से राज्य किया। उसके बाद उसका 12 वर्षीय पुत्र एडवर्ड V सिंहासन पर बैठा किन्तु कुछ महीनो बाद उसके

चाचा ने सिंहासन छीन लिया। उस बालक राजा और उसके भाई का कत्ल कर दिया गया और रिचर्ड तृतीय के नाम से लगभग दो वर्ष शासन किया। ट्यूकसबरी की लड़ाई के 14 वर्ष पश्चात् अंतिम संग्राम हुआ। लैनकास्टर वंश की परम्परा के अंतिम वंशज हेनरी ट्यूडर ने फ्रांस के राजा की सहायता से रिचर्ड के शासन को चुनौती दी व 1485 में बॉस्वर्थ (Bosworth) की लड़ाई में रिचर्ड को हराया और मार दिया। लैनकास्टर वंश सफल हुआ और हेनरी ट्यूडर ने एक नये राजवंश 'ट्यूडर' वंश की नींव डाली।

परिणाम

इन युद्धों से इंग्लैंड में जागीरी युग (Feudal Age) और जागीरी बैरन प्रथा (Feudal Baronage) दोनों का अन्त हुआ। अधिकांश युद्धों के दौरान ही समाप्त हो गये। जो बचे, उनके लिए सजा की कठोर शर्तें रखी गयी और उनसे जमीन-जायदाद छीन ली गयी।

इंग्लैंड की साधारण जनता ने इन युद्धों में कोई भाग न लिया। इसीलिए सामान्य जीवन और वाणिज्य-व्यापार की इतनी हानि नहीं हुई। आम आदमी को शांति, अमन और निश्चित व्यवस्था चाहिए थी। उसकी इसी प्रबल इच्छा ने ट्यूडरवंशियों के निरंकुश शासन-प्रबंध को लाकर खड़ा कर दिया। पार्लियामैंट द्वारा शासन करने का जो लैनकास्टरवंशियों का परीक्षण था, वह बुरी तरह विफल रहा। साधारण जनता तो यह चाहती थी कि राजा अच्छी तरह और कड़े हाथों से शासन करें। 1399 से 1461 तक पार्लियामैंट ने जितने भी अधिकार प्राप्त किये थे, उनकी उपेक्षा की गयी या उन्हें स्थगित कर दिया गया।

सौवर्षीय युद्ध
(Hundred Years' War)

काल : 1337-1453; स्थान : फ्रांस के अनेक प्रदेश

लगभग 115 वर्षों तक फ्रांस और ब्रिटेन के बीच चलने वाले इस युद्ध का आरम्भ तब हुआ जब ब्रिटेन के बादशाहों ने फ्रांस की गद्दी पर भी अपना अधिकार जताना चाहा। इस लम्बे युद्ध में कभी ब्रिटेन का तो कभी फ्रांस का पलड़ा भारी होता रहा। ब्रिटेन के हेनरी पंचम *(Henry V)* ने 1415 में एजिनकोर्ट *(Agincourt)* की लड़ाई में फ्रांस को पराजित करके 1420 में ट्रॉयज़ की सन्धि *(Treaty of Troyes)* के जरिये यह बात मानने पर विवश कर दिया कि फ्रांस की गद्दी पर उसका अधिकार होगा किन्तु 1429 में जॉन ऑफ आर्क *(Joan of Arc)* से प्रेरित होकर फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध फिर युद्ध छेड़ दिया और 1453 तक अपने सभी क्षेत्रों को स्वतन्त्र करा लिया....
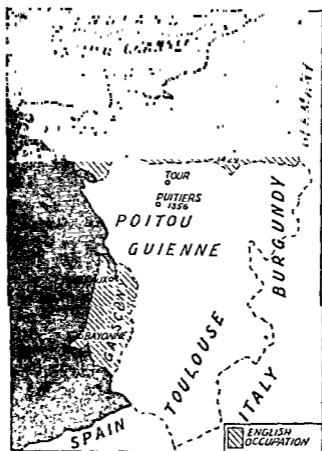
ब्रिटेन और फ्रांस के बीच रुक-रुक कर लड़ी गयी इस युद्ध-शृंखला की शुरुआत छुटपुट झगड़ों के रूप में हुई। फ्रांस के चार्ल्स चतुर्थ (Charles IV) की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार का सवाल उठा क्योंकि 'इजाबेला' उनकी एकमात्र पुत्री थी और नियमानुसार उसे सिंहासन पर नहीं बिठाया जा सकता था। ऐसी स्थिति में वालोई के फिलिप (Philip of Valois) का राज्याभिषेक कर दिया गया और फ्रांस में वालोई राजवंश की नींव पड़ी। इसी वंश के राजाओं ने सौवर्षीय युद्ध किया।

उधर, ब्रिटेन के एडवर्ड तृतीय (Edward III) ने फ्रांस पर अपने स्वामित्व का दावा किया। उसके अनुसार चूंकि उसकी माता फिलिप चतुर्थ की बहन थी, इसलिए फ्रांस की गद्दी पर उसका अधिकार होना चाहिए। टकराव की स्थितियां उग्र होती गयीं। परिणामस्वरूप 1337 में ब्रिटेन के राजा एडवर्ड ने गेस्कनी (Gascony) पर आक्रमण कर दिया तथा स्लूइस (1340), क्रेसी (1346) तथा प्वातियर (1356) की लड़ाइयां जीत कर फ्रांस के कई महत्त्वपूर्ण प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।

1360 में ब्रेतीनी की सन्धि (Treatyof Bretigny) के बाद युद्ध कुछ दिनों के लिए रुक गया। एडवर्ड तृतीय ने फ्रांस पर अपना अधिकार छोड़ बहुत-सा रुपया एवं 'अक्वेटाइन' की रियासत प्राप्त की। फ्रांसवासी अंग्रेजों की पराधीनता नहीं चाहते थे किन्तु विवश थे।

चार्ल्स पंचम के शासन-काल में फ्रांस ने कुछ खोये हुए प्रदेशों को पुन: प्राप्त किया। उसने बेत्राँ दिगे स्कर्ले को अपना सेनापति बनाया। बेत्राँ ने 'केस्टाइल' (स्पेन) में सेना ले जाकर पेड्रो को सत्ताच्युत करके हेनरी का अभिषेक कर दिया। इस प्रकार अब फ्रांस जरूरत पड़ने पर केस्टाइल की नौसेना का उपयोग कर सकता था। 1369-75 के बीच कई प्रदेशों को पुन: प्राप्त करने के बाद चार्ल्स पंचम ने ब्रिटेन पर आक्रमण कर दिया। बेत्राँ ने कई अंग्रेज सरदारों को ठीक किया। चार्ल्स ने सर्वसाधारण की सहायता से शासन में अनेक संशोधन करके देश की व्यवस्था को सुधारा। 1380 में चार्ल्स पंचम की मृत्यु हुई।

पिता की मृत्यु के समय चार्ल्स VI की आयु केवल 12 वर्ष की थी। 1388 में उसका राज्याभिषेक हुआ किन्तु 1392 में उसके पागल हो जाने से फ्रांस का आंतरिक बिखराव और फैल गया। मौका देखकर 1415 में ब्रिटेन के हेनरी पंचम ने फ्रांस पर चढ़ाई करने का इरादा किया क्योंकि ब्रिटेन तथा फ्रांस दोनों देशों का सम्राट बनना उसकी चिर-अभिलाषा थी। उसने हार्फ्ल्यू पर अधिकार कर लिया और एजिनकोर्ट (Agincourt) नामक स्थान पर फ्रांसीसी सेना की सर्वश्रेष्ठ टुकडी को हराया। अन्ततः 1420 में ट्रॉयज की सन्धि के बाद हेनरी फ्रांस का शासक बन गया।

ट्रॉयज़ के सन्धि-पत्र के बावजूद बर्गंडी का जागीरदार फिलिप एवं उत्तर के सभी सूबे चार्ल्स षष्ठ (Charles VI) के पुत्र चार्ल्स सप्तम को ही फ्रांस का

युद्ध का एक दृश्य

राजा मानते थे किन्तु 1422 में हेनरी पंचम का अल्पवयस्क पुत्र ब्रिटेन व फ्रांस का शासक बना जिसकी ओर से बेडफोर्ड का जागीरदार जॉन फ्रांसीसी संरक्षक के रूप में फ्रांस का शासन चला रहा था। अपने योग्य प्रशासन से उसे फ्रांसीसियों का समर्थन मिला किन्तु 1429 में एक साहसी किसान-युवती जॉन ऑफ आर्क (John of Arc) के नेतृत्व मे विशाल सेना एकत्र करके फ्रांसीसियो ने ऑर्लियां पर अधिकार कर लिया। युवक चार्ल्स सप्तम (1422-61) का राज्याभिषेक किया गया। अन्त में अंग्रेजो ने उन्नीस वर्ष की इस युवती पर जादूगरनी होने का अभियोग चला कर 1431 में जिंदा आग मे जला दिया।

चार्ल्स सप्तम ने शासन तथा सेना में अनेक सशोधन किये तथा 1441-45 के बीच फ्रांसीसी सेना ने ब्रिटिश सेनाओं को कई बार हराया और उन्हें वापस लौटने के लिए बाध्य कर दिया। सिर्फ क्लाइस (1558 तक) तथा चैनल द्वीप (Channel island) ही अंग्रेजों के अधिकार में रहे। कुछ समय पश्चात् सुसज्जित सेना की सहायता से चार्ल्स ने 100 वर्षों से चली आ रही इस युद्ध-शृखला को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय किया। ब्रिटेन में उन दिनो प्रबंध ठीक न था, इस कारण लडाई में उनके पैर पीछे हट रहे थे। 1453 में कॉस्टिटयाय के युद्ध मे फ्रांस ने अंग्रेजो को बुरी तरह पराजित किया। इस लड़ाई में हार जाने के बाद फ्रांस पर से ब्रिटेन का अधिकार जाता रहा। इस प्रकार सौवर्षीय युद्ध समाप्त हो गया।

परिणाम

एक शताब्दी के लम्बे अंतराल तक चलने वाले इन युद्धो से दोनों देशो, विशेषतः फ्रांस की शासन-व्यवस्था और अर्थव्यवस्था बिलकुल चरमरा गयी। अस्त्र-शस्त्र के साथ लाखो लोग इन युद्धों मे मारे गये किन्तु फ्रांस के प्रदेशो पर आधिपत्य जमा लेने की ब्रिटिश आकाक्षा पूरी नहीं हो सकी और उन्हे क्लाइस (Calais) तथा चैनल द्वीपों से ही संतोष करना पडा। फ्रांसीसियों का मनोबल बढ़ा जिससे उनमें एकसूत्र होने की चेतना पनपने लगी।

धर्मयुद्ध
(Crusades)

काल : 1096-1291; स्थान : येरूशलम (पश्चिमी एशिया) व आसपास के अन्य क्षेत्र

येरूशलम (वर्तमान मे इसरायल की राजधानी) तीन धर्मों की पवित्र भूमि है। ये धर्म हैं—यहूदी, ईसाई और मुस्लिम। समय-समय पर तीनों धर्मों के लोग इस पर अधिकार पाने के लिए आपस में लड़ते रहे हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में ईसाई धर्मगुरुओं अर्थात् पोपों (Popes) के कहने पर पश्चिमी यूरोप के ईसाई देशों ने मुसलमानों से येरूशलम को छीन लेने के लिए उन पर आक्रमण शुरू कर दिये। यही आक्रमण 'धर्मयुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हैं जो तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक चलते रहे......

ग्यारहवीं शताब्दी में सेल्जुक (Seljuk) तुर्कों का प्रभाव-क्षेत्र काफी बड़ा हो गया। 1071 में मेंज़िकेर्ट की लड़ाई (The battle of Manzikert) में जीत हासिल करके वे बाइज़ेंटाइन (Byzantine—पूर्ववर्ती रोमन साम्राज्य के अतर्गत आने वाले पूर्वी यूरोप के भागो) से लेकर एशिया माइनर (Asia Minor) तक फैल
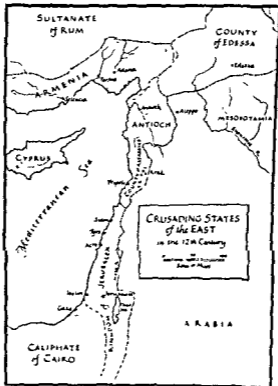
गये और येरूशलम पर अधिकार कर लिया। कहते हैं कि धर्मयुद्धों के शुरू होने का एक कारण यह भी था कि इन क्षेत्रों के ईसाई धर्मावलंबियों पर तुर्क भयानक अत्याचार कर रहे थे। इसके अलावा, ईसाई येरूशलम पर अधिकार पाना चाहते थे जबकि तुर्क उसे अपने अधिकार में रखना चाहते थे।

ईसाई बड़े आहत और अपमानित महसूस कर रहे थे। 1095 में पोप अरबन (Pope Urban) द्वितीय ने पश्चिमी यूरोप के सपूर्ण ईसाई समुदाय को संगठित कर तुर्कों के खिलाफ पवित्र पेलेस्टाइन और येरूशलम को मुक्त कराने के लिए एक 'पवित्र युद्ध' (Holy War) छेड़ने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि इस युद्ध में भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति के अपराधों को माफ कर दिया जायेगा क्योंकि यह धर्म की रक्षा के लिए लड़ा गया युद्ध है।

इसके अलावा व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धा भी युद्ध का एक कारण बनी। जेनेवा, वेनिस, आदि इटली के प्रमुख नगरों के व्यापारी भूमध्य सागर के प्रदेशों में व्यापार करते थे। स्पेन और सिसली में मुस्लिम शासन के अन्त हो जाने से उन्होंने पूर्व में भी व्यापार करने की सोची, इसलिए पूर्वी भूमध्य सागर के प्रदेशों में भी मुस्लिम प्रभुसत्ता को समाप्त करने के लिए फ्रांस के ईसाइयो की एक विशाल सभा हुई। उत्तेजक भाषणों द्वारा येरूशलम से तुर्कों को भगाने के लिए ईसाइयों को बलिदान देने के लिए उकसाया गया। इस आंदोलन ने भी यूरोप के समस्त ईसाइयो को एकसूत्र होकर पवित्र धर्मयुद्ध लड़ने के लिए तैयार किया।

तुर्क और ईसाई : धर्म के नाम पर लड़ाई

ईसाइयों द्वारा येरूशलम की घेरेबंदी : जुलाई, 1099

युद्ध का प्रारम्भ

ईसाइयो और तुर्कों के बीच कुल आठ धर्मयुद्ध लड़े गये किन्तु उनमे से चार धर्मयुद्ध और एक बच्चों का धर्मयुद्ध ही मुख्य हैं।

प्रथम धर्मयुद्ध :— यह 1096 से 1099 तक लड़ा गया। इसमे ईसाइयो को प्रारम्भिक सफलता मिली। 1097 मे येरूशलम पर अधिकार कर लिया गया और उसके अधीन तीन ईसाई राज्य स्थापित किये गये। हजारों यहूदियों व मुसलमानो को मार दिया गया। ईसाइयो की अनुभवहीनता और पारस्परिक द्वेष का लाभ उठाकर तुर्कों ने ईसाइयों के प्रमुख गढ़ ऐडेसा पर पुनः अधिकार कर लिया।

द्वितीय धर्मयुद्ध :— यह 1147-48 के दौरान लड़ा गया। 1144 में तुर्कों द्वारा ऐडेसा पर अधिकार होने से ईसाइयों ने द्वितीय धर्मयुद्ध लड़ा। यह युद्ध भी पहले की भांति पोप के आह्वान पर शुरू हुआ। फ्रास के लुई अष्टम (Louis VIII) व जर्मन सम्राट कोनरड तृतीय (Conrad III) ने ईसाइयों का समर्थन किया किन्तु इस बार पुनः ईसाइयों को नितात असफलता प्राप्त हुई।

तुर्कों के नेता सलादीन (Saladin) ने 1171 में मिस्र पर अधिकार कर लिया व तमाम इस्लाम जगत को धर्मयुद्ध के लिए इकट्ठा किया। 1187 में सलादीन ने येरूशलम पर पुनः अधिकार कर लिया।

तीसरा धर्मयुद्ध :— 1187 मे मुस्लिम नेता सलादीन द्वारा येरूशलम पर पुनः आधिपत्य जमा लेने के प्रत्युत्तर मे ईसाइयों ने तृतीय धर्मयुद्ध छेड़ा। यह धर्मयुद्ध 1189 से 1192 तक लड़ा गया। जर्मन सम्राट फ्रेड्रिक, फ्रांस के फिलिप द्वितीय तथा इंग्लैड के रिचर्ड प्रथम ने इसमें भाग लेने का निश्चय किया किन्तु सम्राट फ्रेड्रिक पहले ही परलोक सिधार गया। फिलिप बीमार पड गया और वापस फ्रास आ गया। इसलिए केवल रिचर्ड ही सेना लेकर येरूशलम पहुचा। आर्निफ (Arnif) मे

सलादीन को हराने से उसे 'लॉयन हार्ट' (Lion Heart) यानी 'शेर दिल' कहने लगे। उसने आकरा (Acre) और जाफ़ा (Jaffa) को प्राप्त कर लिया किन्तु येरूशलम को मुक्त न करवा सका।

चौथा धर्मयुद्ध :– यह धर्मयुद्ध 1201 से 1204 तक लड़ा गया। इस धर्मयुद्ध मे ईसाई सेना कांस्टेटिनोपल (Constantinople) तक पहुंच सकी। उन्होंने येरूशलम जाने के बदले नगर को तीन दिन तक लूटा और वहां की कलाकृतिया नष्ट कर दीं। इसके पश्चात् भी कई धर्मयुद्ध हुए परन्तु सब असफल रहे। उनमें से केवल बच्चो का धर्मयुद्ध ही उल्लेखनीय है।

बच्चों का धर्मयुद्ध :- विगत चार धर्मयुद्धों की असफलता के पश्चात् 1212 मे कुछ ईसाइयो ने यह विचार किया कि बच्चों की एक सेना येरूशलम भेजनी चाहिए। उनके इस विचार का आधार 'बाइबिल' का एक कथन था, जिसमें यह कहा गया है कि एक छोटा बच्चा उनका नेतृत्व करेगा। फ्रांस के एक गडरिये ने तीस हजार बच्चो तथा निकोलस ने बीस हजार जर्मन बच्चो की सेना एकत्रित करके प्रस्थान किया किन्तु इन दोनों प्रयत्नो में भी उन्हें पूर्ण असफलता मिली। फ्रांसीसी बच्चो मे केवल एक व जर्मन बच्चों में लगभग 200 बच्चे ही जीवित बचे। कुछ रास्ते मे मर गये व कुछ को मुसलमानों ने गुलाम बना कर बेच दिया।

परिणाम

जिस उद्देश्य से ये धर्मयुद्ध लडे गये थे, हालाकि वे पूरे नहीं हुए किन्तु उनके परिणाम महत्त्वपूर्ण साबित हुए। इसके अलावा चार अन्य धर्मयुद्धों के दौरान कोई भी निर्णायक घटना नहीं हुई। 1291 मे तुर्को ने आकरा (Acre) पर अधिकार कर लिया और उसी वर्ष येरूशलम पर बिना अधिकार के ही धर्मयुद्ध समाप्त हो गये।

तुर्कों के सपर्क मे आने से ईसाइयो ने कला तथा विज्ञान संबंधी अनेक नयी बातें सीखी। ईसाइयो की पृथकता का अन्त हुआ और उनकी वेशभूषा, रीति रिवाजो मे परिवर्तन आया। विलास की सामग्रियां, फर्नीचर, आदि का प्रयोग अधिक मात्रा मे किया जाने लगा।

इसके अतिरिक्त उनके भौगोलिक ज्ञान और व्यापार में भी वृद्धि हुई। पश्चिमी यूरोप को भूमध्य सागर तथा पश्चिमी एशिया के देशों के विषय मे पर्याप्त जानकारी मिली। कुछ साहसी यात्रियो ने व्यापार एवं अनुसंधान के लिए लम्बी यात्राएं की, जिनमे सबसे प्रसिद्ध मार्कोपोलो था।

धर्मयुद्धो ने सामंतवाद का अन्त करने मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। लोगों मे आपसी सहिष्णुता तथा समझदारी बढ़ी। चर्च का प्रभाव कम हो गया। पोप के प्रति लोगो मे अविश्वास पैदा होने लगा। बौद्धिकता का भी विकास हुआ। यूरोपीय जन प्राचीन यूनानी ज्ञान से परिचित हुए। फलतः दिशासूचक यंत्र (Compass), बारूद और मुद्रण-यंत्र (Printing machine) का प्रचार हुआ।

रोम-ब्रिटेन युद्ध
(The Roman Invasion of Britain)

काल : 55 ई.पू., स्थान : ब्रिटेन के कई क्षेत्र

महान रोमन सेनानायक जूलियस सीजर (Julius Caesar) ने दो बार ब्रिटेन पर चढ़ाई की: 55 ई.पू. और 54 ई.पू. में। दूसरी बार वह ब्रिटेन में भीतरी क्षेत्रों मे दूर तक गया किन्तु बाद में इस पर पूरी तरह विजय पाये बिना लौट गया। इस चढ़ाई से जूलियस सीजर को लाभ हुआ हो या नहीं, ब्रिटेन को अवश्य हुआ। उसका यूरोप के अन्य भागों से संबंध जुड़ गया......

आज से 2,000 वर्ष पूर्व तक ब्रिटेन शेष विश्व से लगभग कटा हुआ द्वीप था। केवल कुछ व्यापारी वहां से टिन लाकर यूरोप की मंडियों में बेचा करते थे। पाइथीज नामक एक व्यापारी ने लगभग 325 ई.पू. में ब्रिटेन का भ्रमण किया और वहा का कुछ वर्णन लिखा। इस वर्णन द्वारा पहले-पहल बाहर के लोगों को ज्ञात हुआ कि यूरोप के पश्चिम में भी दो द्वीप है। इन द्वीपों को उन्होने 'टिन द्वीप' का नाम दिया।

रोमन सेनापति जूलियस सीज़र (100-44 ई.पू.) ने सबसे पहले ब्रिटेन को बाह्य दुनिया से जोड़ा। उसके भीतर ब्रिटेन को विजित करने की इच्छा प्रबल होती जा रही थी क्योंकि 58 ई.पू. मे रोम-गाल (फ्रांस) युद्ध के दौरान उसे ज्ञात हुआ था

कि ब्रिटेन के कुछ कबीले गाल के कुछ कबीलों की सहायता कर रहे हैं। सीजर ने उन्हें दंड देने का निश्चय किया। साथ ही उसके मन में लालच उठा कि संसार के दो नये द्वीपों को जीतने से रोम गणराज्य मे उसका मान बढ़ेगा और लूट का माल भी हाथ लगेगा। वस्तुतः धन और यश के साथ-साथ वह रोम गणराज्य पर भी अधिकार जमा लेने की सोच रहा था।

युद्ध का प्रारम्भ

अगस्त, 55 ई.पू. को सीजर ने एक बडी सेना लेकर ब्रिटेन पर आक्रमण कर दिया। वह जहाजों द्वारा कैट के समुद्र-तट पर जा उतरा। उसके जहाजी बेडे में कुल 80 जहाज थे परन्तु उसकी सेना का दूसरा भाग समय पर न पहुंच सका। अतः निराश होकर उसे लौटना पडा। अगले वर्ष 54 ई.पू. में 800 जहाजों की विशाल सेना के साथ उसने फिर ब्रिटेन पर आक्रमण किया। इस युद्ध में ब्रिटिश लोग पराजित हो गये। ब्रिटेन ने रोम गणराज्य को कर देने का वचन दिया। वचन लेकर सीजर गाल (फ्रांस) लौट आया। बाद में ब्रिटेन से कोई कर प्राप्त नही हुआ। सीजर इसी बीच दूसरे आवश्यक कार्यो में व्यस्त हो गया। साथ ही पुन ब्रिटेन पर हमला करने का उसका उत्साह ठंडा पड़ गया क्योकि सीजर स्वय वहां की निर्धनता देख आया था। प्रसिद्ध रोमन विद्वान सिसरो लिखता है कि उस द्वीप मे तो एक ग्राम भी सोना नही था। गुलामों के सिवाय कोई माल न था और न ही साहित्य अथवा कला
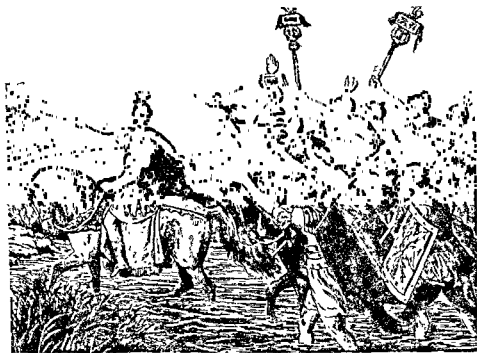
रोमन सेनाओं का कुशल नेतृत्व करता महान सेनानायक सीजर

आदि की किसी को जानकारी थी। उस समय तक वहां सभ्यता का भी प्रवेश नही हुआ था किन्तु रोमनो के ये दो आक्रमण व्यर्थ नही गये।

अब तक रोम गणराज्य, रोमन साम्राज्य बन चुका था। सीजर का गोद लिया पुत्र आगस्टस (31 ई पू से 14 ई.पू.) रोम का प्रथम सम्राट बना। रोम के चौथे सम्राट क्लाडियस ने 41 ई मे सत्तारूढ होते ही ब्रिटेन को विजित करने का निश्चय किया। फलस्वरूप उसने 43 ई. मे अपने अनुभवी सेनापति ऑलस प्लाटियस को चालीस हजार सैनिक देकर ब्रिटेन की विजय के लिए भेजा। सेना ब्रिटेन के एक द्वीप पर जा उतरी। चार वर्ष तक मारकाट के बाद ही ऑलस को सफलता प्राप्त हुई। ब्रिटेन के दक्षिण और पूर्व के भागो को उसने जीत लिया। 47 ई. में ऑलस प्लाटियस लौट आया।

59 ई मे रोमन-सीमा लिंकन से चैस्टर तक फैल गयी। इसी वर्ष रोमन सेनापति स्यूटोनियस पालिनस ने ब्रिटिश धार्मिक स्थल मोना द्वीप पर अधिकार कर लिया तथा अनेक ब्रिटिश पुरोहितो का वध कराया।

61 ई. मे इसी कबीले के सरदार की विधवा बोडिसी के नेतृत्व में एक विद्रोह फूटा। ब्रिटिश जनता ने इसी वीर महिला का साथ दिया तथा 7000 रोमवासियो तथा उनके खुशामदियो को मार डाला। अन्तत. स्यूटोनियस पालिनस ने ब्रिटिश विद्रोह को कुचल डाला। रोमन सेना द्वारा लगभग 80 हजार ब्रिटिश जनो को मार दिया गया। बोडिसी ने विष खाकर आत्महत्या कर ली।

अगले 17 वर्षो (61-78 ई.) मे रोमन सेनाए उत्तर की ओर बढ़ती चली गयी। उन्होने ब्रिटेन का अधिक भाग जीत लिया। ब्रिटेन मे रोम के गवर्नर जनरल अग्रिकोला के नेतृत्व मे पूरा वेल्स तथा मोना द्वीप भी रोमन अधिकार मे आ गया था। 85 ई. मे अग्रिकोला रोम लौट आया। उसने अपने शासन-काल मे ब्रिटेन के लोगो का रोमनीकरण किया और वहां की आर्थिक व्यवस्था मे सुधार किया। इस प्रकार ब्रिटेन में रोमन आधिपत्य मे अनेक सुधार हुए।

परिणाम

इस युद्ध के परिणाम तथा प्रभाव दूरगामी सिद्ध हुए। प्राचीन रोमन सभ्यता और सस्कृति के सपर्क मे आकर ब्रिटेन को अपना साहित्य, कला, दर्शन, आदि विकसित करने की प्रेरणा मिली। ब्रिटेन ने बाद मे चल कर इन्ही के आधार पर अपनी सामाजिक-आर्थिक प्रणालिया स्थापित की।

प्यूनिक युद्ध
(Punic Wars)

काल : 264-146 ई पू ,   स्थान . भूमध्यसागर तथा यूरोप के प्रदेश

813 ई.पू. में स्थापित उत्तरी अफ्रीका का कार्थेज राज्य धीरे-धीरे इतना शक्तिशाली हो गया कि ई.पू तीसरी-दूसरी शताब्दी में भूमध्यसागरीय क्षेत्रों मे श्रेष्ठता के लिए रोम से मुकाबला करने लगा। इस प्रकार, कार्थेज और रोम के बीच तीन युद्ध लड़े गये जिन्हें इतिहास में 'प्यूनिक युद्ध' कहते हैं। तीसरे युद्ध में लगभग सभी कार्थेजवासियों को गुलाम बना लिया गया और पूरा का पूरा राज्य नष्ट कर दिया गया....

कार्थेज (Carthage) उत्तरी अफ्रीका मे फिनीशियो (Phoenicians) का उपनिवेश था। 813 ई.पू. मे फिनीशियो ने उत्तरी अफ्रीका मे आधुनिक ट्यूनिस (Tunis) के पास स्थित कार्थेज को स्वतन्त्र राज्य घोषित कर दिया। शीघ्र ही अपने व्यापार को बढ़ाकर कार्थेज इतना समृद्ध और शक्तिशाली प्रदेश बन गया कि उसने उत्तरी अफ्रीका, स्पेन के आधे दक्षिणी भाग तथा सिसली, आदि पर अधिकार कर लिया। व्यापारिक नगर होने के कारण इसका प्रशासन भी व्यापारियों के हाथ मे था। कार्थेज के सस्थापक फिनीशियो को लैटिन भाषा मे प्यूनी (Poenı) कहते हैं और इसी कारण कार्थेज-रोम युद्धो को प्यूनिक युद्ध।
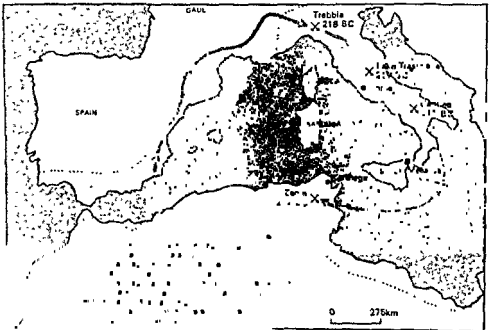
उधर रोम का साम्राज्य भी समृद्ध और शक्तिशाली होता जा रहा था और अपना व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। इसलिए दोनों शक्तियो के बीच यह तय करना जरूरी था कि सिसली और भूमध्यसागर मे व्यापारिक प्रभुत्व किसका होगा? फलत: 264 ई.पू. मे प्यूनिक युद्धों की एक लम्बी शृखला शुरू हुई।

प्रथम युद्ध :—यह युद्ध 264-241 ई.पू. तक लड़ा गया। कार्थेज द्वारा सिसली पर अधिकार कर लेना इसका मुख्य कारण बना। रोम और कार्थेज के मध्य पहली बडी लडाई 262 ई पू. मे हुई, जिसमें जनरल सेंथीपस (Xanthippus) तथा हेमिल्कर (Hamilcar) के नेतृत्व में कार्थेज की सेना को थल पर कुछ प्रारम्भिक सफलता मिली। हेमिल्कर ने सैकड़ो रोमवासियो को मौत के घाट उतार कर अपने देवता को भेट में चढ़ाया। पराजित रोमनों की सहायता के लिए जो जलसेना भेजी गयी, वह भी तूफान के कारण नष्ट हो गयी। इससे रोमन सीनेट (Roman Senate) को बड़ी निराशा हुई। फिर भी धैर्य रखकर 251 ई.पू. मे रोम की एक विशाल सेना ने कार्थेज सैनिकों को पराजित कर उनके शस्त्रास्त्रों तथा हाथियों, आदि को हथिया लिया। यह पराजय कार्थेज की निर्णायक पराजय की पूर्वपीठिका सिद्ध हुई और 241 ई.पू. में इगेडियन द्वीप (Aegadian Isles) की निर्णायक लड़ाई मे रोम की जलसेना ने कार्थेज को पराजित कर दिया। कार्थेज को सन्धि करनी पड़ी और क्षतिपूर्ति के लिए काफी धन देना पडा तथा उसने सिसली को खाली करना भी स्वीकार कर लिया।

द्वितीय युद्ध :—द्वितीय प्यूनिक युद्ध 218-201 ई पू. तक लड़ा गया। कार्थेज के सेनानायक हेमिल्कर की मृत्यु के बाद उसके पुत्र हनीबाल (Hannibal) ने अपने पिता के अधूरे रह गये कार्यो को पूरा करने की शपथ ली। प्रथम युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद रोम ने अपने साम्राज्य का विस्तार आल्प्स पर्वतश्रेणी तक कर लिया और कार्थेजवासियों पर अत्याचार करने शुरू कर दिये। प्रथम युद्ध की पराजय के अपमान से कार्थेजवासी पहले ही परेशान थे। रोम साम्राज्य के अत्याचारो से उनके भीतर दबी बदले की आग भडकने लगी। बस, हनीबाल और उसके सैनिको को सही अवसर की तलाश थी।

हनीबाल ने भी अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू कर दिया। उसने स्पेन की ओर से आल्प्स जैसी दुर्गम पर्वतश्रेणी को पार करते हुए इटली पर आक्रमण कर अपने इरादो को स्पष्ट कर दिया। रोमन साम्राज्य के लिए उसका यह विजय-अभियान वास्तव में एक चितनीय विषय था। उसके लिए हनीबाल की निरतर बढ़ती शक्ति को कुचलना जरूरी था किन्तु युद्ध को लेकर रोमन सीनेट मे परस्पर विवाद चल रहा था। साधारण जनता युद्ध के पक्ष मे नही थी, जबकि सत्ता के सलाहकारों के अनुसार युद्ध अनिवार्य था।

परिणामस्वरूप रोम को ऐसे भीषण युद्ध मे प्रविष्ट होना पडा जैसा कि उसने तब तक कभी लड़ा ही नहीं था। इधर, जैसे ही हनीबाल को पता लगा कि सिपियो

अफ्रिकानुस (Scipio Africanus) के नेतृत्व में रोमन सेना कार्थेज पर आक्रमण करने की योजना बना रही है, उसे अपनी विजयों का सिलसिला रोक कर रोम का मुकावला करने के लिए लौटना पड़ा।

202 ई.पू. में अफ्रीका में ज़ामा (Zama) नामक स्थान पर निर्णायक लड़ाई हुई। सिपियो के नेतृत्व मे रोमन सेना ने हनीवाल की सेनाओं को बुरी तरह से पराजित कर दिया। इस युद्ध में कार्थेज के बीस हजार सैनिक मारे गये तथा इतने ही कैद कर लिये गये। कार्थेज की पूर्ण पराजय हुई और हनीवाल कार्थेज भाग गया। कार्थेज को विवशतः सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार उसे स्पेन से अपनी सेनाएं हटानी पडी तथा जलसेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। रोमन हनीबाल को पकड़ना चाहते थे किन्तु उसने विष खाकर आत्महत्या कर ली।

तृतीय युद्धः—द्वितीय युद्ध की भयंकर पराजय के वावजूद कार्थेज ने अपने को पुनर्गठित किया और शीघ्र ही शक्तिशाली राज्य वन गया। रोम का कार्थेज के विकास से आशंकित होना स्वाभाविक था। किन्तु युद्ध की चिंगारी को रोमन सभासद (Roman Senator) कैटो (Cato) के इस वाक्य ने हवा दी कि कार्थेज को विनष्ट करना जरूरी है। कैटो अपने प्रत्येक भाषण की समाप्ति इस घोषणा के साथ करता थाः "शेष, मेरा यह मत है कि कार्थेज का विनाश आवश्यक है।" फलतः *149 ई.पू. में पुनः रोम और कार्थेज के बीच युद्ध शुरू हो गया जो 146 ई.पू.* मे कार्थेज के संपूर्ण विनाश के साथ ही समाप्त हुआ।

परिणाम

प्यूनिक युद्धो की इस शृंखला मे कार्थेज की संपूर्ण पराजय का मुख्य कारण था—उसके किराये और वेतन पर खरीदे सैनिक। निश्चित वेतन पाने वाले इन सैनिको में लड़ने का जज़्बा जरूर था किन्तु उस राष्ट्रभक्ति और देशप्रेम का अभाव था, जिसके कारण रोमन सेनाएं अन्ततः विजय-श्री हासिल कर लेती थीं।

जिस तरह से कार्थेज ने विकास की गति को तेजकर अपना वर्चस्व कायम किया था, वह बिलकुल समाप्त हो गया तथा यूरोप मे रोम का प्रभाव और भी बढ़ गया। रोम के धर्म, आचार तथा शासन-प्रबंध, आदि में परिवर्तन हुआ। *यूनान की सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित होकर रोम में उनके कई देवताओं को माना जाने* लगा और रोम एक अजेय शक्ति बनकर उभरा। कार्थेज को रोम की अफ्रीकी सीमा तय किया गया। कार्थेज-शासक हनीबाल की पराजय जरूर हुई किन्तु अपनी कुशल रणनीति और शौर्य से वह सिकन्दर, नेपोलियन, आदि सेनानायकों की तरह इतिहास बन गया।

एथेंस—स्पार्टा युद्ध

(Athens-Sparta Wars)

काल 431 ई पू   स्थान प्राचीन यूनान के बड़े प्रदेश

प्राचीन यूनान के दो राज्य-प्रदेशों—एथेंस और स्पार्टा में क्षेत्रीय श्रेष्ठता तथा शक्ति की सर्वोच्चता के लिए प्रतिद्वंद्विता चलती रहती थी। दोनों एक-दूसरे पर आक्रमण करते रहते। एथेंस और स्पार्टा के बीच इन युद्धों को पेलोपोनेशियाई युद्ध (Peloponnesian War) भी कहते हैं। इन युद्धों में यूं तो स्पार्टा की जीत हुई लेकिन वह धीरे-धीरे इतना कमजोर हो गया कि आंतरिक विद्रोहों और अन्य बाहरी आक्रमणों को दबाने में असफल रहा तथा 146 ई.पू. में रोमन साम्राज्य में मिला लिया गया....

प्राचीन यूनान के छोटे-छोटे राज्यों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के संदर्भ में 445 ई पू में एथेंस और स्पार्टा की सन्धि का मुख्य उद्देश्य सभी राज्यों में शांति स्थापित करना था। यह प्रयास किया गया कि जब कोई राज्य दूसरे राज्य की अपेक्षा अधिक समृद्ध और शक्तिशाली हो तो उनमें आपसी ईर्ष्या की जगह प्रेम और शांति की भावना हो। उस समय एथेंस अपनी थल और नौसेनाओं के विस्तार में लगा था। स्पार्टा को यह स्थिति बड़ी अपमानजनक लगी। दूसरी ओर एथेंस ने कोरिंथ (Corinth) को हराकर उसके व्यापारिक मार्गों को बंद कर दिया था। इससे कोरिंथ के व्यापार को आघात पहुंचा। एथेंस से बदला लेने के लिए उसने स्पार्टा से सहायता मांगी। उधर कोरसिरा (जो भूमध्य सागर में स्थित है व अब कॉर्फू द्वीप कहलाता है) ने एथेंस में सम्मिलित होने की प्रार्थना की क्योंकि उसके और कोरिंथ के मध्य संबंध ठीक न होने के कारण वह एथेंस से मिलना चाहता था।

आखिरकार युद्धप्रिय स्पार्टा ने 431 ई.पू. में एथेंस पर आक्रमण कर दिया। स्पार्टा की प्रशिक्षित सेना का सामना करने के लिए एथेंस के पास पर्याप्त थलसेना न थी परन्तु उसके पास विपुल प्रशिक्षित जलसेना थी। एथेंस के जनरल पेरिक्लीज़ (Pericles) ने अपने सैनिको को शत्रु पर आक्रमण करने की बजाय आक्रमण रोकने को कहा जिससे स्पार्टा के सैनिक आगे न बढ़ें। उसी दौरान भयकर प्लेग फैल गया। उन्होने इसे ऐथेनी देवी का कोप समझा।

429 ई.पू. मे पेरिक्लीज़ का देहात हो गया। पेरिक्लीज की मृत्यु से एथेस मे नेतृत्व का अभाव हो गया। उन्हें सलाह देने वाला कोई न बचा। कई वर्षो तक लगातार युद्ध होता रहा। 425 ई.पू. में उन्होंने 420 स्पार्टा सैनिको को पेलोपोनीज के किनारे घेर लिया। स्पार्टा के सैनिक एथेस की 10,000 सेना के साथ वीरता से लडते रहे परन्तु जब उनमें से केवल 282 सैनिक शेष रह गये तो उन्होने आत्मसमर्पण कर देना ही उचित समझा। एथेस ने किसी भी तरह की सन्धि के लिए इकार कर दिया। फलस्वरूप युद्ध होता रहा।

दूसरे वर्ष प्रसिद्ध जनरल ब्रासीदास के नेतृत्व में स्पार्टा सैनिको ने एथेंस की सेना को डेलियम नामक स्थान पर बुरी तरह पराजित कर दिया। इस युद्ध में सुकरात तथा उसका प्रसिद्ध शिष्य अल्सीबाइडीज बडी वीरता से लडे थे। दोनों ओर के सेनापति, ब्रासीदास (स्पार्टा) और क्रियन (एथेंस) मारे गये। अन्तत. 421 ई.पू. मे दोनों ने एक दूसरे के देश और कैदी लौटाने की शर्त पर सन्धि कर ली।

सन्धि के बावजूद इन दोनों नगरों के बीच का अंदरूनी कलह समाप्त नही हुआ। अल्सीबाइडीज दक्षिणी इटली और सिसली को मिलाकर एथेस की शक्ति
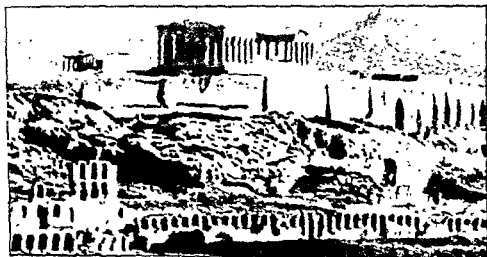
युद्ध के बाद एथेंस के ध्वंसावशेष

बढ़ाना चाहता था किन्तु इसी दौरान एथेंस में एक घटना घटी। एक दिन प्रातःकाल नगर के प्रत्येक द्वार पर हर्मीज की खंडित मूर्ति के टुकड़े देखे गये। लोगों ने अल्सीबाइडीज पर संदेह किया कि वह निरंकुश होकर प्रजा को दबाना चाहता है। इस स्थिति में अल्सीबाइडीज चिढ़कर स्पार्टा भाग गया और शत्रुओं को एथेस की सभी युक्तिया बता दीं। अल्सीबाइडीज का बल पाकर स्पार्टा ने 418 ई.पू. में फिर युद्ध आरभ किया। अल्सीबाइडीज के बाद निसियस एथेंस का एकमात्र नेता रह गया था। डेमोस्थेनीज के नेतृत्व में एक और सेना उसकी सहायता को आई परन्तु यह सेना भी, जिस पर एथेस को पूरा विश्वास था, हार गयी और बेड़ा भी हार गया। एथेंस के पास केवल 40,000 सेना बची थी। निसियस और डेमोस्थेनीज सीमित सैन्य-शक्ति के बावजूद लड़ते रहे। अन्ततः इस भयंकर युद्ध में एथेस बुरी तरह विनष्ट हो गया तथा दोनों नेताओं को मृत्युदंड दे दिया गया।

कुछ समय बाद अल्सीबाइडीज का स्पार्टा से भी झगड़ा हो गया और वह फारस चला गया। इतना होने पर भी एथेंस उसकी वापसी के लिए इच्छुक था। अल्सीबाइडीज प्रजातन्त्र का विरोधी था और निरंकुश शासन चाहता था। अतः उसने लिखा कि फारस की सहायता तभी मिल सकती है जब एथेंस की प्रजातान्त्रिक प्रणाली बदल दी जाये। 411 ई.पू. में प्रजातन्त्र को वर्गतन्त्र (ओलीगार्की) में बदल दिया गया।

410 ई.पू. में अल्सीबाइडीज एथेस लौट आया। एथेस लौटने पर उसका भरपूर स्वागत किया गया और उसे पुन जनरल बना दिया गया परन्तु कुछ दिन बाद फिर उस पर सदेह किया जाने लगा और उसे पद से अलग कर दिया गया। इसी दौरान स्पार्टा का जनरल फारस के राजा साइरस से मिल गया और उसने एथेंस पर आक्रमण कर दिया। एथेस पराजित हुआ। एथेस के अधिकारियो ने सेनानायकों से क्रुद्ध होकर सार्वजनिक सभा में उन्हें मृत्युदड देने का प्रस्ताव रखा, जिसे जनसमूह का भरपूर समर्थन मिला। सेनानायकों की मृत्यु के पश्चात् 404 ई.पू. मे एथेंस की निर्बल सेना को कैद कर लिया गया। किले तोड़ दिये गये, प्रजातन्त्र नष्ट हो गया। साम्राज्य तो पहले ही नष्ट हो चुका था।

परिणाम

इस भयानक युद्ध का सर्वाधिक दुष्प्रभाव प्राचीन यूनानी सभ्यता व सस्कृति पर पड़ा। यूनान के बौद्धिक और सास्कृतिक कला-नगरों का संपूर्ण वैभव उजड गया और यूनानी सस्कृति में उत्थान का एक चरण समाप्त हो गया।

इसके अतिरिक्त एथेस की सप्रभुता और उसके वर्चस्व को खत्म करने का स्पार्टा का स्वप्न पूरा हुआ। युद्ध की भयानकता का परिणाम यह हुआ कि छोटे-छोटे राज्यों और जागीरों में एकीकरण की भावना पलने लगी।

थर्मापायली की लड़ाई

(The Battle of Thermopylae)

समय : 480 ई.पू.;   स्थान : थर्मापायली (पूर्व-मध्य यूनान)

पूर्व-मध्य यूनान में एक बड़ा ही संकरा दर्रा है—थर्मापायली। यह उत्तरी मार्ग से यूनान में आने-जाने का मुख्य मार्ग रहा है। ई.पू. पांचवीं शताब्दी में इसी दर्रे के निकट लिओनिडस (Leonidas) के नेतृत्व में एक छोटी-सी यूनानी सेना ने आक्रमणकारी फारसी फौजों के साथ वीरतापूर्वक तीन दिनों तक लड़ाई की थी और उन्हें रोक रखा था। चूंकि थर्मापायली के दर्रे के निकट लड़ाई हुई थी, इसलिए इसे थर्मापायली की लड़ाई कहते हैं...

मैराथन की लड़ाई (The Battle of Marathon) में डेरियस की फारसी सेनाओं को यूनानी सेनाओं से भयंकर पराजय मिली थी। इस पराजय से फारस का बादशाह डेरियस प्रथम (Darius I, 522-486 B.C.) जीवन भर दुखी और क्रुद्ध रहा और यूनान को पाने और जीतने के लिए निरंतर प्रयास करता रहा। दुर्भाग्यवश अपना अधूरा स्वप्न लिये उसे दुनिया से जाना पड़ा।

डेरियस की मृत्यु के बाद जरक्सीज़ प्रथम (Xerxes I, 486-465 B.C.) ईरान का सम्राट बना परन्तु वह अपने पिता के समान साहसी और वीर सैनिक न था। वह ऐसे सैनिक सलाहकारों से घिरा था जो हर समय उसे एथेंस पर आक्रमण करने के लिए उकसाते रहते थे। फलतः उसके भीतर अपने पिता के अपमान का प्रतिशोध लेने की ललक बढ़ती गयी और एक विशाल सेना लेकर वह एथेंस की ओर चल दिया।

युद्ध का प्रारम्भ

इस युद्ध का वर्णन सुप्रसिद्ध यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस (Herodotus, 484-425 B.C.) ने किया है। उसके अनुसार ईरानी सेना की संख्या 50 लाख थी, जिसने हेलीस्पंत मुहाना पार करके यूरोप में प्रवेश किया और जरक्सीज़ के नेतृत्व में थ्रेस और मैसीडोनिया जीत लिये।

थर्मापायली यूनान के पूर्व-मध्य भाग में एक तंग दर्रा था, जहां 480 ई.पू. में यह युद्ध लड़ा गया। दर्रा इतना तंग और सकरा था कि उसके दोनों ओर के ऊंचे पहाड़ों के बीच से सिर्फ एक जहाज गुजर सकता था। यूनानियो ने मोर्चे के लिए इसी स्थान को उपयुक्त समझा। दूसरे, एथेंस और स्पार्टा अपने पुराने बैर और द्वेष को भुलाकर एकसूत्र हो गये क्योंकि स्पार्टावासी युद्धप्रिय भी थे और कौशल में भी एथेंस से बढ़कर थे, जबकि थार्ब्स राज्य द्वेषवश एथेंस को हराने की इच्छा से ईरान के साथ जा मिला। सिर्फ एथेस और स्पार्टा दो राज्यो ने ईरान की विशाल सेना का

जरक्सीज के नेतृत्व में हेलीस्पत नदी पार करती ईरानी सेना

मुकाबला किया। एथेस के पास एक विशाल जलसेना थी, जिसे एथेस-जनरल थेमिस्टोक्लीज ने अपने प्रतिद्वद्वी एरिस्टाइडीज के विरोध के बावजूद तैयार किया था। यूनानी सेना का नेतृत्व स्पार्टा के राजा लेओनिडस ने किया।

रख
ले।
लडी।
यूनानी सेना को घेरने का एक नया रास्ता बता दिया। ईरानी सेना अकस्मात वहां पहुच गयी और यूनानी वीर एक-एक कर वीरतापूर्वक लडते हुए मारे जाने लगे, जिनमे स्पार्टा का राजा लेओनिडस भी था।

एथेस नगर खाली होने लगा। उन्हे अपनी पूर्ण पराजय होती जान पडी परन्तु कुछ समय बाद उस की जलसेना ने युद्ध की दिशाएं बदल दी। थेमिस्टोक्लीज सेना के साथ आगे बढ़ा। विशाल ईरानी सेना को अपनी विजय मे विश्वास था परन्तु उसे ऐसी तग खाड़ियो मे लडने का अनुभव नही था, जैसा यूनानियो को था। इसलिए सख्या मे अधिक होते हुए भी वे बुरी तरह हार गये।

परिणाम

यूनान के लिए यह गौरवपूर्ण विजय थी। मेराथन की लडाई की भाति इस बार भी यूनान की स्वतन्त्रता और सभ्यता नष्ट होते-होते बची। जरक्सीज का यूनान-विजय का स्वप्न अधूरा रह गया। यूनान ने अपने पडोसी प्रदेशो को भी ईरान की पराधीनता से मुक्त करवाया।

मेराथन की लड़ाई

(The Battle of Marathon)

काल : 49 ई.पू., स्थान : मेराथन (प्राचीन यूनान)

ई.पू. पांचवीं-छठी शताब्दी में फारस के बादशाहों का बड़ा बोलबाला था। एजियन सागर (Aegean Sea) के निकट के लगभग सभी क्षेत्रों पर उनका आधिपत्य था। इन क्षेत्रो में अधिकतर यूनानी उपनिवेश थे। जब डेरियस प्रथम (Darius I, 522-486 B.C.) फारस का बादशाह बना तो इन क्षेत्रों में विद्रोह हो गया और कर मिलने बंद हो गये। तब एक बड़ी सेना लेकर डेरियस उन्हें सबक सिखाने के लिए एथेंस के उत्तर में स्थित मेराथन नामक स्थान पर जा पहुंचा लेकिन पराजित हुआ। यह समाचार लेकर फीडिपीडिज (Pheidippides) नामक एक व्यक्ति चालीस किलोमीटर दूर एथेंस तक दौड़ता चला गया और थकान के कारण मर गया। उसी की याद में ओलिंपिक खेलों में मेराथन दौड़ आयोजित की जाती है....

फारस के बादशाह महान साइरस (Cyrus the Great) ने 559 ई.पू. में मीडिया (Media), लीडिया (Lydia) को जीतने के बाद एशिया माइनर और बैबिलॉन को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। उसकी मृत्यु के पश्चात् भी इस साम्राज्य की विजयों का सिलसिला जारी रहा और मिस्र भी उसमें मिला लिया गया। 522 ई.पू. मे डेरियस प्रथम फारस का बादशाह बना। दस वर्ष पश्चात् उसने एक बड़ी जलसेना लेकर सीथिया पर आक्रमण करने के लिए डैन्यूब नदी पर नावो का पुल बांध दिया। उस पुल पर वह स्वय कुछ साथियों के साथ सबसे पहले चढ़ा और अपने एशिया के अनुयायी यूनानियो को कहा, "मैं सीथिया पर आक्रमण करने जा रहा हूं। यदि मै साठ दिन तक लौट कर न आऊं तो तुम मुझे मरा समझ कर पुल को तोड देना और अपने देश को लौट जाना।" साठ दिन बीत गये किन्तु डेरियस न लौटा। एक दिन पता लगा कि डेरियस भागा हुआ लौट रहा है क्योंकि शत्रु उसके थोड़े से सैनिको को पराजित कर उसका पीछा कर रहे थे। उस समय कुछ लोगो ने अनुयायी यूनानियो को पुल तोड़ देने की सलाह दी। हालाकि डेरियस यूनान का शत्रु था, फिर भी उन्होने इन बातों पर कोई ध्यान नही दिया। डेरियस पुल पार करके अपने देश में आ गया।

कुछ दिनों बाद डेरियस ने यूरोप-विजय का विचार किया और थ्रेस तथा मैसीडोनिया के यूनानी प्रदेशो को जीत लिया। इसी समय फारस में ही आयोना जैसे यूनानी प्रदेशो मे उसके विरुद्ध विद्रोह हो गया। एथेस के लोगों ने ईरान के अधीनस्थ एक प्रसिद्ध नगर सारडिस को आग लगा दी। इस घटना से डेरियस के भीतर क्रोध और प्रतिशोध का लावा फूट पडा। फलतः उसने कई लाख सेना एवं जलसेना लेकर एथेंस पर आक्रमण कर दिया। काले सागर के पास डैन्यूब नदी के दहाने तक उसकी सेना जा पहुंची। यूनानियो ने थोड़ा-बहुत प्रतिरोध किया किन्तु
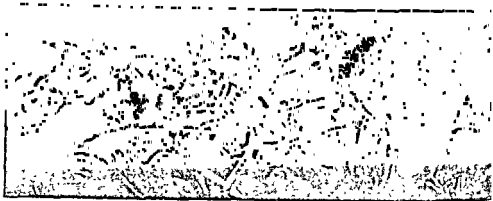
लड़ाई का दृश्य

उसे दबा दिया गया। पीछे हटते-हटते एथेंसवासी ऐसे पहाड़ी अज्ञात क्षेत्रो में चले गये, जहां सेना के निर्वाह के साधन मिलने असभव थे। इसलिए आक्रमणकारी डेरियस को निराश-मन वापस लौटना पड़ा। फिर भी थ्रेस विजय करके उसने वहा 80 हजार सेना तैनात कर दी।

युद्ध का प्रारम्भ

ईरान की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित होकर यूनानियो ने ईरान के अधीनस्थ मिस्र तथा बैबिलॅन को विद्रोह के लिए उत्तेजित किया। आयोना को खुलेआम सहायता दी गयी। इस विद्रोह और उद्दंडता के दमन के लिए डेरियस ने पुनः यूनान पर आक्रमण करने की योजना बनायी।

490 ई.पू. मे एथेस के उत्तर मे स्थित मेराथन नामक स्थान पर इस युद्ध की शुरुआत हुई। मिल्टियाड्स ने 20,000 फारसी सेना के मुकाबले 11,000 ऐथीनियायी सेना का नेतृत्व किया। फारसी सैनिक मेराथन जैसे समतल मैदान पर अपनी घुड़सवार सेना के सही उपयोग के प्रति विश्वस्त थे किन्तु एथेसवासियो ने उन्हे यह अवसर ही नही दिया और अकस्मात् उस समय आक्रमण कर दिया जब उनके लड़ाक् और जांबाज घोडे इधर-उधर गये हुए थे। यूनानी सेनाध्यक्ष मिल्टियाड्स ने देर तक युद्ध करने के बाद फारसी सेनाओ को मेराथन की लडाई मे पराजित कर दिया। डेरियस इतना दुखी हुआ कि कुछ दिनो बाद ही मर गया।

परिणाम

मेराथन के युद्ध में मिली पराजय से डेरियस और भी क्रुद्ध हुआ और मृत्युपर्यंत यूनान को जीतने का प्रयास करता रहा किन्तु असफल रहा। इसके अतिरिक्त यूनान के छोटे-छोटे राज्यों ने आपसी मतभेदो को भुलाकर एक परिसघ की स्थापना की और अपने को ईरानी दासता से मुक्त कर लिया।

ट्रॉय का युद्ध
(Trojan War)

काल : 1190 ई पू के लगभग , स्थान : ट्रॉया (प्राचीन यूनान मे स्पार्टा का पड़ोसी राज्य)

1870 में जर्मन पुरातत्ववेत्ता (archaeologist) हेनरिक शिलमैन (Heinrich Schliemann) ने पहली बार सिद्ध किया कि ट्रॉय का युद्ध यूनानी कवि होमर (Homer) की कल्पना नहीं बल्कि एक वास्तविक घटना है। यह युद्ध तब हुआ जब स्पार्टा के राजा मेनेलाउस की पत्नी हेलेन को ट्रॉय के राजा प्रियम का बेटा पेरिस अपने यहाँ उठा ले गया। यूनानियों ने इसका बदला लेने के लिए ट्रॉय पर आक्रमण कर दिया। दस वर्षों तक युद्ध चलता रहा। बड़ी चतुराई से लकड़ी के घोड़े में छुपकर कुछ यूनानी सैनिक ट्रॉय के किले के अंदर जा पहुंचे और रात के समय उन्होंने किले का फाटक खोल दिया। ट्राय पराजित हो कर नष्ट हो गया.....

ट्रॉय को शताब्दियो तक विद्वान पौराणिक और काल्पनिक नगर मानते रहे। उनके मतानुसार ट्रॉय नामक कोई नगर कभी था ही नही और यूनानी आदिकवि होमर ने अपने महाकाव्य 'इलियड' में ट्रॉय के संदर्भ मे इस नगर का उल्लेख किया है जो उनकी कल्पना की उपज है। किन्तु 19वी शताब्दी के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता हेनरिक शिलमैन के निरतर अनुसंधान तथा खुदाई के फलस्वरूप इस नगर के अवशेष मिल गये हैं। इन अवशेषों ने इस तथ्य को सुदृढ़ बनाया है कि ट्रॉय कोई काल्पनिक तथा पौराणिक नगर नही था बल्कि आज से लगभग 5,000 वर्ष पूर्व इसका अस्तित्व जरूर था, जहां लगभग 1190 ई.पू. में ट्रॉय का युद्ध हुआ।

युद्ध का प्रारम्भ

यह युद्ध एक नारी के कारण लड़ा गया। एक बार तीन देवियो (goddess) के बीच सौन्दर्य-प्रतियोगिता हुई। कौन सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है, इसका निर्णय ट्रॉय के राजा प्रियम (Priam) के पुत्र पेरिस (Paris) पर छोड़ दिया गया। देवियों में से एक को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया। परिणामस्वरूप प्रसन्न होकर उसने पेरिस को संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी प्रदान करने का वादा किया। इसके लिए स्पार्टा के राजा मेनेलाउस (Menelaus) की रानी हेलेन को प्राप्त करने के लिए षड्यंत्र रचा गया। अन्ततः पेरिस हेलेन का अपहरण कर उसे ट्रॉय ले आया। हेलेन भी पेरिस की सुन्दरता देखकर मुग्ध हो गयी किन्तु वह विवाहिता थी।

यूनानवासी इस अपमान को सह न सके और उन्होने ट्रॉय पर आक्रमण दिया। यूनानी सेना 10 वर्ष तक ट्रॉय नगर का घेरा डालकर युद्ध करती रही ट्रॉय की अभेद्य दीवारों को लाघ कर नगर में प्रवेश न कर सकी। अन्त मे सेनापति ओडिसियस को एक चाल सूझी। उसके सुझाव के अनुसार बहुत

खोखला घोड़ा तैयार किया गया, जिसमें 100 योद्धा खड़े हो सकते थे। उस नकली घोड़े को नगर के द्वार पर छोड़ कर यूनानी सैनिक कुछ पीछे हटकर छिप गये।

ओडिसियस की चाल सफल हुई। ट्रॉयवासियों ने सोचा कि शत्रु उनके लिए उपहारस्वरूप यह शानदार घोड़ा छोड़ कर भाग गये हैं। इसलिए वे उसे किले में

ट्रॉय पर अकस्मात आक्रमण कर दिया। दोनों सेनाओं में भीषण युद्ध छिड़ गया।

तब योद्धाओं में परस्पर द्वंद्व-युद्ध होता था। इसी प्रणाली के अनुसार यूनान के सबसे योग्य योद्धा एकिलीस ने ट्रॉय के प्रख्यात वीर हेक्टर को द्वंद्व युद्ध के लिए चुनौती दी। चुनौती सुनते ही वृद्ध प्रियम ने अपने बेटे हेक्टर को उकसाते हुए कहा—"आज मैं ट्रोजनों में कई वीरों को नहीं देख रहा हूं। मैं अपने दो पुत्रों को गवा चुका हू। न जाने वे कहा हैं? यदि वे युद्ध में मारे गये हैं तो मेरी और उनकी मां की आत्मा सदा दुखी रहेगी। यही वह एकिलीस है, जो हमारे दुःखों का कारण है। अतएव मैदान में आकर ट्रॉय के स्त्री-पुरुषों की रक्षा करो, मेरे बेटे!"

इधर, एकिलीस अपने मित्र पेट्रॉक्लस की मौत का बदला लेना चाहता था, जिसे हेक्टर ने मार डाला था। दोनों में घमासान युद्ध हुआ। एकिलीस ने हेक्टर को घायल कर दिया था किन्तु हेक्टर को भी बिना लड़े मृत्यु प्रिय नहीं थी। हेक्टर ने तलवार निकाली और बिजली की भांति एकिलीस पर झपटा। एकिलीस सीधे हाथ में भाला लेकर आगे बढ़ा और हेक्टर के गले को निशाना बनाया। इस बार निशाना बिलकुल ठीक बैठा। युवा हेक्टर जमीन पर गिर पड़ा और सिर पटक-पटक कर आंखें बंद कर ली।

ट्रोजन जिसे देवता की तरह पूजने लगे थे, वह नहीं रहा। मृत हेक्टर के शरीर को एकिलीस ने रथ के पीछे बांधा और रथ को तेजी से दौड़ा दिया। जमीन पर घिसटता हुआ हेक्टर का चेहरा लहूलुहान हो गया। ट्रॉयवासियों से यह वीभत्स दृश्य न देखा गया। बूढ़ी मां फूट-फूट कर रोने लगी। पिता दर्द से कराह उठा। संपूर्ण ट्रॉय शोक में डूब गया। अन्त में यूनानी वीरों ने ट्रॉय पर अधिकार कर लिया। एक भयानक अन्त के साथ युद्ध समाप्त हुआ।

परिणाम

इतिहास ऐसे ही असख्य युद्धों से भरा है, जिनमें नारी के कारण विस्फोट व टकराव की स्थितियां पैदा हुई और सत्ता को या तो हथिया लिया गया अथवा उसका समूल नाश कर दिया गया। ट्रॉय के इस युद्ध का परिणाम भी वही हुआ। पेरिस, हेक्टर के साथ-साथ एकिलीस जैसे बहादुर सैनिक मारे गये।

भारतीय युद्ध और लड़ाइयाँ

1971 का भारत-पाक युद्ध
(Indo-Pak War of 1971)

काल : दिसम्बर, *1971*; स्थान : भारत की पूर्वी तथा पश्चिमी सीमा

भारत 1947 में ब्रिटिश उपनिवेशवादी दासता से मुक्त हुआ किन्तु इसके पूर्वी तथा पश्चिमी सीमांत प्रदेशों में मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों को इससे अलग करके एक इस्लामी राष्ट्र पाकिस्तान का गठन कर दिया गया। जबसे पाकिस्तान बना है, दोनों देशों के बीच निरंतर तनाव की स्थिति बनी रही है और तीन बड़े युद्ध लड़े गये हैं : 1947, 1965 और 1971 में। 1971 का युद्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसकी समाप्ति के साथ ही भारतीय उपमहाद्वीप में एक नये राष्ट्र का उदय हुआ और वह राष्ट्र है—बांगला देश। आज का यही बांगला देश 1971 के भारत-पाक युद्ध से पहले तक पाकिस्तान का पूर्वी हिस्सा था....
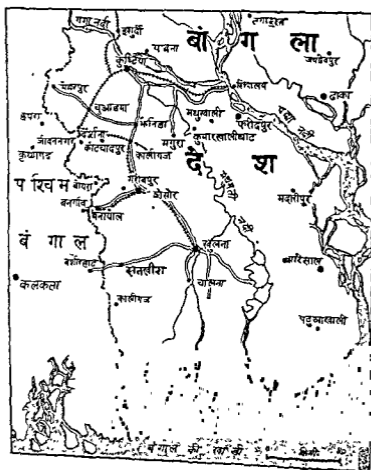
भारत के टुकड़े करके जिस तरह पाकिस्तान का निर्माण हुआ था, उसमें कई असंगतियां थीं। पूर्वी पाकिस्तान पश्चिमी पाकिस्तान से केवल धर्म से जुड़ा था अथवा राजनैतिक पन्नों पर पाकिस्तान का हिस्सा था, जबकि दोनों में बहुत कम समानताएं थीं। भौगोलिक दृष्टि से परस्पर 1,000 मील की दूरी पर स्थित दोनों हिस्सों में भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज तथा रहन-सहन, आदि में भी अनेक विसंगतियां तथा असमानताएं थीं। इसके अलावा पूर्वी भूखंड पश्चिमी पाकिस्तान के उपेक्षापूर्ण रवैये से परेशान था। सरकारी नौकरियों में भी उन्हें उपेक्षित रखा जाता था। कुल मिलाकर, उनकी स्थिति एक उपनिवेश जैसी थी।

फलतः अपने अस्तित्व के लिए पूर्वी भूखंड के निवासियों के भीतर विद्रोह और असंतोष पनपने लगा। 'अवामी लीग' का गठन इस ओर एक कदम साबित हुआ। दिसम्बर, 1970 के आम चुनावों में पाकिस्तान की राष्ट्रीय संसद की कुल 313 सीटों में 196 सीटें पूर्वी पाकिस्तान के लिए आरक्षित रखी गयी, जिनमें से 167 सीटों पर अवामी लीग ने शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में विजय प्राप्त की। स्पष्ट बहुमत होने के कारण मुजीब ने सरकार बनाने का प्रस्ताव पेश किया। उधर, पश्चिमी पाकिस्तान में जुल्फिकार अली भुट्टो की पीपुल्स पार्टी को भारी बहुमत मिला, इसलिए उसने अवामी लीग द्वारा सरकार बनाये जाने के प्रस्ताव का विरोध किया। फलतः चुनाव के बाद के संसदीय अधिवेशन को स्थगित कर दिया गया। कालांतर में पश्चिमी पाकिस्तान ने संविधान में संशोधन करने की भी योजना बनायी ताकि पूर्वी भूखंड सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत न कर सके किन्तु यह योजना कार्यान्वित न हो सकी।

तब 26 मार्च, 1971 को शेख मुजीब ने पूर्वी पाकिस्तान की स्वायत्ता (autonomy) की घोषणा करते हुए अपने अधिकारों के लिए पहले से ही जूझ रही वहां की जनता से संघर्ष तेज करने का आह्वान किया। उन्होंने लोगों को टैक्स देने से भी मना कर दिया। मार्च के अंतिम सप्ताह में पश्चिमी पाकिस्तान ने इसे 'गैर कानूनी' घोषित करके अमानुषिक फौजी अत्याचार शुरू कर दिये। दमनकारी फौजों से तंग लोग जान बचाकर सीमावर्ती भारतीय प्रदेशों में शरण लेने लगे। अक्तूबर, 1971 तक इन शरणार्थियों की संख्या एक करोड़ से भी अधिक हो गयी। इन शरणार्थियों पर दो करोड़ रुपये प्रतिदिन से अधिक के खर्च से भारतीय अर्थव्यवस्था प्रभावित होने लगी। इस समस्या के समाधान के लिए तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री स्व. श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इत्यादि देशों का दौरा किया किन्तु किसी भी देश की ओर से संतोषजनक उत्तर न मिला और भारत के लिए स्थितियां असह्य होती गयी।

दूसरी ओर, पाकिस्तान के तत्कालीन सैनिक प्रशासक जनरल याह्या खान इन बिगड़ती परिस्थितियों से निपटने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे और सारा दोष भारत पर मढ़ने की कोशिश में लगे थे। जनरल याह्या मन ही मन देश की सत्ता

की बागडोर खुद अपने हाथों में सम्भाले रखने के इच्छुक थे किन्तु जुल्फिकार अली भुट्टो के नेतृत्व में पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी द्वारा चलाये जा रहे आंदोलनों के कारण नागरिक प्रशासन की बात भी कर रहे थे। पूर्वी पाकिस्तान के विद्रोह को कुचलने के लिए जनरल याह्या ने लगभग एक लाख सैनिक वहां भेज दिये। अमरीका और चीन से उन्हें हथियारो के रूप में लगातार सैनिक सहायता मिल रही थी। इसलिए हथियारों की कमी भी नही थी। देश की जनता का ध्यान आतरिक समस्याओं से हटाने के लिए जनरल याह्या खान को भारत के साथ युद्ध छेड़ देना ही श्रेयस्कर लगा। उन्होने 3 दिसम्बर, 1971 को भारत पर पहले इसकी पश्चिमी सीमाओ से और बाद मे पूर्वी सीमाओ से हमला बोल दिया।

पश्चिमी मोर्चा

3 दिसम्बर को जब पाकिस्तान के बमवर्षक विमानों ने भारत के बारह हवाई अड्डो पर अचानक आक्रमण किया तो इससे पहले ही उसकी थल सेनाएं छम्ब क्षेत्र (जम्मू-कश्मीर) से लगे भिम्बर मोर्चे पर पहुच चुकी थीं। उसी दिन रात के पहले पहर मे पाकिस्तान ने दो जबरदस्त हमले किये किन्तु दोनो ही बार उसके 6 टैक नष्ट कर दिये गये। पाकिस्तानी सेना के आक्रमणो का जब पहला प्रयास विफल हो गया तो उन्होने अपने घुसपैठिये भेजने शुरू किये परन्तु उनका यह प्रयास भी नाकाम कर दिया गया।

9-10 दिसम्बर की रात को पुन संगठित पाकिस्तानी सेना ने पुछ (जम्मू-कश्मीर) के उत्तर की ओर कूच किया परन्तु हमला बोलने से पहले ही भारतीय बमवर्षको ने उनकी कमर तोड दी। हाजीपीर के निकट वाले कस्बे कहुटा की सप्लाई पर बमबारी करके उनकी रसद व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न कर दी गयी। हजीरा-कोटली मार्ग की तमाम चौकियो पर कब्जा कर लिया गया और पुछ के आसपास के सभी क्षेत्रो पर भारतीय सेनाओं ने अपना अधिकार कर लिया।
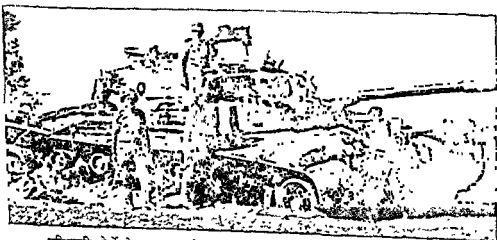
पश्चिमी मोर्चे के शकरगढ़ क्षेत्र में ध्वस्त पाकिस्तानी टैंक के साथ भारतीय जवान

इससे पूर्व 5 दिसम्बर को मुनव्वर तवी नदी के पश्चिमी किनारे पर हुई मुठभेड मे भारतीय सेना को कुछ पीछे हटना पड़ा था। हालाकि पाकिस्तानी सेना को काफी नुकसान हुआ था, फिर भी उसने लगातार दवाव बनाये रखा और भारतीय सेना को पहले देवा मडेलिया, फिर छम्ब खाली करना पडा किन्तु 10-11 दिसम्बर की रात को भारत ने दुश्मन को तवी के दूसरे किनारे पर धकेल दिया। इसमे करीब 3000 पाक सैनिक हताहत हुए और 50 से अधिक टैक ध्वस्त कर दिये गये। इस सफल हमले के बाद भारतीय सेना का दबाव बराबर बढ़ता रहा। छम्ब, पुछ और उडी (Uri) के अलावा कश्मीर की बाकी पूरी सीमा छुटपुट लड़ाई के अतिरिक्त लगभग शात रही।

कश्मीर की जमा देने वाली ठड, हिमपात के बावजूद सैनिक रातो मे लडते रहे। इसी ठिठुरन की सबसे भयानक और व्यापक लडाई थी—शकरगढ की टैक-लडाई। इस मोर्चे पर दुश्मन के टैको की संख्या सबसे अधिक थी परन्तु भारतीय सेना ने अपने थोडे से टैको के कुशल सचालन से 15-16 दिसम्बर की रात को दुश्मन के 45 से अधिक टैको को ध्वस्त कर दिया जबकि उनके अपने 15 टैक ही ध्वस्त हुए। पाकिस्तानी सेना मे खलबली मच गयी। इस प्रकार पश्चिमी मोर्चे पर छम्ब, शकरगढ तथा राजस्थान के मोर्चो के अलावा थार के मरुस्थल से लेकर पंजाब के गुरदासपुर जिले तक की लगभग 700 कि.मी. लम्बी सीमा पर युद्ध के छोटे-बडे मुकाबले होते रहे। वस्तुत इस सीमा पर भारतीय सेना ने शत्रुपक्ष को मुस्तैदी से बाधे रखा।

पूर्वी मोर्चा

इस मोर्चे पर भारतीय तथा बागलादेश की मुक्तिवाहिनी सेनाओ के सयुक्त प्रयासो ने पाकिस्तानी सैन्य-बल को इस कदर हतोत्साहित कर दिया कि उनके सामने आत्मसमर्पण के अतिरिक्त कोई रास्ता न बचा। 8 दिसम्बर को भारत के तत्कालीन थल सेनाध्यक्ष जनरल मानेकशॉ ने शत्रुपक्ष को आत्मसमर्पण को कहा किन्तु उधर से कोई उत्तर न आया। अगले दिन 9 दिसम्बर को भारत मे सरकारी तौर पर घोषणा की गयी कि पाकिस्तान की अमरीका निर्मित गाजी (Ghazi) पनडुब्बी डुबो दी गयी है।

12 दिसम्बर की सुबह भारतीय सेनाओ ने जमालपुर से ढाका की ओर कूच किया। टगाइल के पास जमालपुर और मैमनसिह से भागे पाकिस्तानी सैनिक सगठित होकर भारतीय आक्रमण का मुकाबला करने की तैयारी कर रहे थे परन्तु भारतीय सेना ने उन्हे मौका नही दिया और घेर लिया। मुकाबले मे लगभग तीन सौ पाकिस्तानी सैनिक मारे गये।

13 दिसम्बर को भारतीय सेना ने फिर तेजी से आगे बढना शुरू किया। एक स्थान पर पडी पाकिस्तानी फौज को भारतीयो ने अचानक घेर कर सकते मे डाल

दिया। उनके पास आत्मसमर्पण के अलावा कोई रास्ता न बचा। भारतीय सेना ने पाकिस्तानी सेना में दहशत फैलाने और उन्हें आत्मसमर्पण के लिए मजबूर करने के इरादे से ढाका की छावनी, हवाई अड्डे और गवर्नर हाउस पर बमबारी करनी शुरू की। हवाई हमलों से घबराकर सचमुच पाकिस्तानी सेना में दहशत फैल गयी। वहां के गवर्नर डॉ. मलिक ने इस्तीफा दे दिया। पाकिस्तानी सैनिक अफसर भी समझ गये कि भारतीयों से इस समय युद्ध करने का अर्थ होगा—बरबादी। अतः वे शांत बने रहे। उनके खेमों में चुप्पी छा गयी। गाज़ी के नष्ट होने व कराची में ईंधन के अड्डों पर बमबारी के समाचारों से पाक सेना का मनोबल टूट गया।

अन्ततः भारतीय जनरल मानेकशॉ ने पाकिस्तानी लेफ्टिनेंट जनरल अब्बास नियाजी को 16 दिसम्बर को प्रातः 9.बजे तक अपनी फौजों के साथ आत्मसमर्पण करने का आदेश भेजा। जनरल नियाजी ने आत्मसमर्पण का प्रस्ताव मान लिया।

उसके बाद भारतीय सैनिक अधिकारी पाकिस्तानी हैडक्वार्टर पहुंचे जहां लेफ्टिनेंट जनरल नियाजी बंकर में छिपे थे। 11 बजकर 5 मिनट पर नियाजी बाहर निकले और मेजर जनरल नागरा से गले मिले। इसी बीच 36वें पाक डिवीजन के जी.ओ.सी. मेजर जनरल जमशेद ने अपने अधीनस्थ सैनिकों के साथ पूरी तरह आत्मसमर्पण कर दिया।

दोपहर लगभग एक बजे लेफ्टिनेंट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के चीफ ऑफ स्टाफ मेजर जनरल जैकब आत्मसमर्पण का मसौदा लेकर हेलीकॉप्टर से ढाका पहुंचे। ढाका के रेसकोर्स में तीसरे पहर 4.31 बजे जनरल नियाजी ने 93,000 सैनिकों सहित आत्मसमर्पण-प्रलेख पर हस्ताक्षर किये। इस तरह एक नये राष्ट्र का जन्म हुआ। बांगला देश के नागरिक स्वतंत्रता की खुशी में अमानुषिक नरसंहार की घटनाओं को भूलकर नाच उठे।

परिणाम

पूर्वी भूखंड को पश्चिमी पाकिस्तान के अमानुषिक अत्याचारों से मुक्ति मिली और 'बांगला देश' स्वतंत्र रूप से एक नया राष्ट्र बना। बांगलावासियों ने शेख मुजीबर्रहमान को अपने लोकतंत्र का प्रथम प्रधानमंत्री चुना और उनके नेतृत्व के प्रति विश्वास प्रकट किया।

पाकिस्तान में याह्या खान का सैनिक शासन समाप्त हुआ और भुट्टो प्रधानमंत्री बने। युद्ध में भारत तथा पाकिस्तान द्वारा कब्जा लिये गये क्षेत्र परस्पर लौटा दिये गये। 2 जुलाई, 1972 को श्रीमती इंदिरा गांधी और जुल्फिकार अली भुट्टो के बीच 'शिमला समझौता' हुआ। दोनों नेताओं ने निरस्त्रीकरण का समर्थन करते हुए समस्याओं को युद्ध की बजाय वार्ताओं से सुलझाना श्रेष्ठ समझा।

भारत-चीन युद्ध
(India-China War)

काल · 20 अक्तूबर, 1962, स्थान   भारत की पूर्वोत्तर/पश्चिमोत्तर सीमाएं

अक्तूबर, 1913 से लेकर जुलाई, 1914 तक शिमला में भारत (तब ब्रिटिश उपनिवेश), तिब्बत और चीन के मध्य मैकमहोन रेखा द्वारा जो सीमांकन किया गया था, साम्यवादी चीन उसे ब्रिटेन की साम्राज्यवादी चाल कह कर उसका विरोध करता रहा है। भारत इसे ही अधिकृत और ऐतिहासिक अंतर्राष्ट्रीय सीमा-रेखा स्वीकार कर चीन के द्वारा लगातार सीमा-उल्लंघन का प्रतिवाद करता रहा है। 1959 में जब चीन ने तिब्बत में अपनी सेनाएं भेजकर उस पर कब्जा कर लिया तो भारत ने इसकी आलोचना की। 20 अक्तूबर, 1962 को चीन ने भारत पर अचानक आक्रमण करके इस आलोचना का उत्तर दिया ..

भारत-चीन सीमा लगभग 2,500 मील है। दोनों ही देशों में लम्बे अंतराल से सीमा का विवाद है। भारत के अनुसार मैकमहोन रेखा (Mc Mahon Line) की 700 मील लम्बी पहाड़ियों की सीमा तिब्बत और उत्तर-पूर्वी भारत में भूटान की पूर्वी सीमा से लेकर तलु दर्रे तक फैली हुई है किन्तु चीन ने इस भू-क्षेत्र में 35,000 वर्गमील पर अपना दावा ठोक रखा है। मध्य क्षेत्र में स्पिति नदी (River Spiti) और पारे चू (Pare Chu) के बीच सतलुज और गंगा तक भारतीय सीमा है।
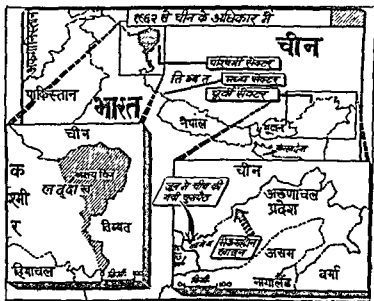
भारत की पूर्वोत्तर तथा पश्चिमोत्तर सीमाओं को लेकर अक्तूबर, 1913 से जुलाई, 1914 के बीच शिमला में हुई त्रिपक्षीय वार्ता (tripartite talks) में भारत (तत्कालीन ब्रिटिश उपनिवेश), तिब्बत और चीन के मध्य सीमा-निर्धारण को अंतिम रूप दिया गया। दो बड़े कागजों पर उत्तर-पूर्व की सीमाओं का नक्शा तैयार हुआ और सीमा-रेखा अंकित की गयी। नक्शे की प्रतिलिपियों पर प्रत्येक देश की मोहरें लगायी गयी। तब चीनी प्रतिनिधि वान चेन-चेन ने भी हस्ताक्षर कर इस सीमांकन पर अपनी सहमति प्रकट की थी।

ब्रिटिश प्रतिनिधि 'मैकमहोन' के नाम पर यह सीमा-रेखा प्राकृतिक, पारम्परिक, प्रशासनिक और ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर निश्चित की गयी थी। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य 'जातीय' भी था। वहां स्थित मोनवा, अका, डफला, मीरी, अबोर और मिश्मी जनजातियां असम की जनजातियों से मेल खाती थी।

आश्चर्यजनक बात तो यह है कि सीमा-निर्धारण संबंधी सभी वार्ताओं में भाग लेने तथा हस्ताक्षर करने के बावजूद चीन ने इस सीमांकन को न केवल नकार दिया बल्कि 1950 में उत्तर-पूर्वी सीमावर्ती क्षेत्र में 35,000 वर्गमील के भू-क्षेत्र पर अपना दावा भी प्रस्तुत कर दिया। 20 नवम्बर, 1950 को भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने इस अवैध मांग का विरोध किया। यहीं से विवादों का सिलसिला शुरू हुआ। 1959 तक ये विवाद पूरी तरह खुलकर सामने आ गये, जब तिब्बत पर चीनी कब्जे की भारत ने कड़ी आलोचना की।

युद्ध का प्रारम्भ

20 अक्तूबर, 1962, प्रातः साढ़े चार बजे, पारस्परिक मित्रता और 'पचशील' के 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' (peaceful co-existence) के भावनात्मक सिद्धांतों की हत्या कर चीन ने नेफा (उत्तर-पूर्वी सीमा) के धोला क्षेत्र और लद्दाख पर आक्रमण कर दिया। चूंकि चीन ने अचानक आक्रमण किया था और भारतीय सेनाओं को पहले से ऐसी कोई आशा नहीं थी, वे पूरी तरह युद्ध के लिए तैयारी नहीं कर पायीं थी। फिर भी, भीषण लड़ाई हुई लेकिन लद्दाख की भारतीय चौकियां छिन गयी। 5वीं जाट बटालियन एक बहुत बड़े क्षेत्र में बिखरी हुई थी। उसे दौलतबेग ओल्दी (Daulat Beg Oldi) तक की सभी उत्तरी चौकियों को खाली कर देना पड़ा। चुशूल से 100 मील दक्षिण में स्थित दमचौक और जरला पर भी चीनियों का अधिकार हो गया। दस्तों को जल्दी से विमानों द्वारा ले जाया गया और चुशूल ने एक दुर्ग का रूप ले लिया।

यद्यपि बाहरी इलाके में लड़ाई चलती रही पर चीनी आगे नहीं बढ़ सके। अत्यन्त प्रतिकूल मौसम होते हुए भी भारतीय जवान अत्यन्त वीरता से लड़े किन्तु शीघ्र ही पूर्वी मोर्चे पर भारतीय सेना बिलकुल बेबस हो गयी तथा चीनियों ने निरंतर आगे बढ़ते हुए नेफा के दूसरे सिरे पर स्थित वालगोंग (Walgong) पर

1947 का कश्मीर युद्ध
(Kashmir War of 1947)

वक्त : 1947 1949, स्थान : कश्मीर

स्वतंत्रता मिलने के बाद से ही कश्मीर भारत-पाक संबंधो मे कटुता और विवाद का खास मुद्दा रहा है। भारत स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 के प्रावधानो मे देशी रियासतों को दिये गये अधिकारो के अनुसार कश्मीर-शासक हरिसिंह ने विलय की अपेक्षा कश्मीर के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकारा। किन्तु पाकिस्तानी शासको के विचार से, कश्मीर का आम आदमी उसमे मिलना चाहता था क्योकि कश्मीर में मुसलमानो की बहुसंख्या रही है। इसलिए उसकी निगाहें बराबर इस मुस्लिम-बहुल क्षेत्र पर लगी रहीं। आज कश्मीर पाकिस्तानी कब्जे मे होता, यदि महाराजा हरिसिंह के अनुरोध पर भारत इस युद्ध में न उतरता ...

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतत्र हुआ किन्तु उल्लास के साथ-साथ उसे विभाजन की त्रासदी भी झेलनी पडी। मुहम्मद अली जिन्ना (Muhammad Ali Jinnah, 1876-1948) ने पाकिस्तान के रूप मे अलग देश की माग की और भारत दो हिस्सो मे बट गया।
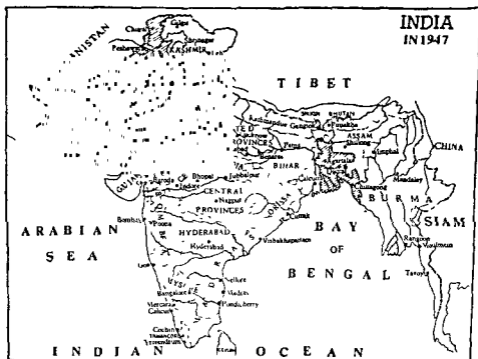
नीचे दक्षिण मे राज्य की सैनिक टुकडियां राज्य की सीमा के साथ-साथ नौशेरा, झगर, राजौरी, भिवर, मीरपुर, कोटली और पुछ मे थीं। इन सबको घेर लिया गया। 19 नवम्बर को भारतीय सेना ने नौशेरा और झंगर पर अधिकार कर लिया। फिर कोटली और मीरपुर लेने के बाद पुछ को मुक्त कराने के लिए कदम उठाये गये।

सबसे बडा युद्ध 6 फरवरी, 1948 को नौशेरा की मुक्ति के समय लडा गया। भारतीय चौकियो पर 4000 पाकिस्तानियों ने दक्षिण-पूर्व से और 30,000 ने उत्तर-पूर्व से आक्रमण किया। एक भयानक युद्ध हुआ, जिसमे भारतीय वायुसेना ने करतब दिखाये। लगभग 2000 पाकिस्तानी और 48 भारतीय सैनिक हताहत हुए। बाद में 18 मार्च के दिन झगर को भी शत्रु से मुक्त करा लिया गया।

8 अप्रैल को राजौरी की ओर कूच किया गया, जिसे भारतीय सेना ने 12 अप्रैल को अधिकार मे ले लिया। कश्मीर के अन्य पहाडी क्षेत्रों में युद्धों के पश्चात् सितम्बर, 1948 को पुछ को सहायता देने का कार्य शुरू किया गया। 21 नवम्बर को पुछ गैरिसन से सबध जोडा जा सका। 23 को मेंघर पर अधिकार हो गया। अन्तत. 1 जनवरी, 1949 को सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा युद्धविराम की घोषणा कर दी गयी।

परिणाम

इस युद्ध ने कश्मीर के तत्कालीन शासकों के सामने यह बात स्पष्ट कर दी कि पडोस मे पाकिस्तान के रहते हुए स्वतत्र राज्य के रूप मे अस्तित्व बनाये रखना कठिन होगा और भारत के साथ विलय ही उचित होगा। अचानक युद्धविराम की घोषणा के कारण जम्मू-कश्मीर को काफी नुकसान उठाना पडा क्योंकि राज्य के एक-तिहाई हिस्से पर पाकिस्तान का अधिकार बना रहा और उसे मुक्त नही कराया जा सका। इस युद्ध ने पाकिस्तानी शासको के सामने सिद्ध कर दिया कि यह उनकी गलतफहमी है कि जम्मू-कश्मीर की जनता पाकिस्तान में मिलना चाहती है क्योंकि आक्रमण के समय वहा की जनता ने उनकी आशाओ के विपरीत भारतीय सेनाओं का साथ दिया। पाकिस्तान इसे एक असफल युद्ध ही मानता है क्योंकि एक-तिहाई हिस्से पर अधिकार पा लेने के बावजूद कश्मीर आज भी दोनों देशो के बीच विवाद का विषय बना है। भारत की दृष्टि में जम्मू-कश्मीर का भारत मे अतिम रूप से विलय हो चुका है और इस राज्य पर कोई भी आक्रमण भारत पर आक्रमण है।

झांसी की रानी का स्वाधीनता युद्ध
(Rani Jhansi's War of Independence)

काल : 1857 58, स्थान : झासी, ग्वालियर आदि

देशी रियासतों के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करके उन्हें सीधे ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन बनाने के लिए गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी (Lord Dalhousie, 1848-1856) ने नियम बना दिया कि जिन देशी रियासतों के शासकों की मृत्यु बिना पुत्र के हो जाती है, उनके द्वारा गोद लिये गये उत्तराधिकारियों को मान्यता नहीं दी जायेगी और उनकी रियासतों पर ब्रिटिश अधिकार हो जायेगा। झांसी के शासक गंगाधर राव की जब मृत्यु हुई तो अंग्रेजों ने उनके गोद लिये उत्तराधिकारी को शासक मानने से इंकार कर दिया और झांसी को ब्रिटिश कब्जे में लेने के लिए सर ह्यू रोज़ (Sir Hugh Rose) के अधीन एक बड़ी अंग्रेजी फौज भेज दी। स्व० गगाधर राव की पत्नी वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई ने अग्रेजों की इस कार्रवाई को भारतीय परम्पराओं के विरुद्ध मानकर उन्हे देश से बाहर खदेड़ देने के लिए तलवार उठा ली......

मई 1857 मे मेरठ और लखनऊ के बाद स्वाधीनता के लिए अग्रेजी शासन के विरुद्ध झासी में भी विद्रोह पनपा। इस विद्रोह की सूत्रधार थी—रानी लक्ष्मीवाई। लक्ष्मीबाई का विवाह झासी के शासक गगाधर राव के साथ हुआ था।
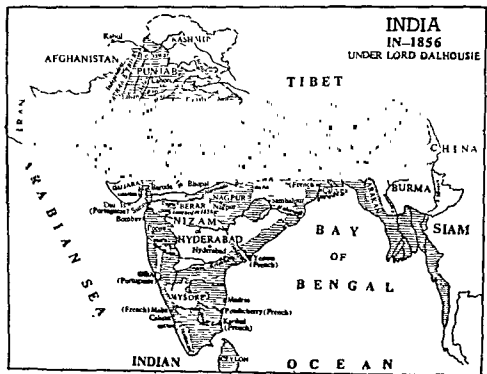
जनरल का आदेश हुआ कि वह अविलंब ग्वालियर पहुंचे। हैदराबाद रेजिमेंट, आदि कुछ अन्य सेनाएं भी ग्वालियर की ओर रवाना की गयीं। कुल पांच पलटनें गोरों की, चार भारतीयो की, 2000 घुड़सवार और झांसी, आगरा, शिवपुरी, आदि से कुछ अन्य अंग्रेजी सेनाए भी ग्वालियर भेजी गयीं। यह सेना इतनी बडी थी कि विद्रोहियों के दमन का किसी को भी सदेह न हो सकता था।

14 जून को अग्रेजी सेनाए मुरार आ पहुची। जियाजीराव सिंधिया भी आगरा से मुरार छावनी मे वापस आ पहुचा। 16 जून को एक विशेष बैठक मे यह निश्चय किया गया कि शत्रु के सभी मोर्चो के मुकाबले में मोर्चे तैयार किये जाये। पूरी व्यूह-रचना के बाद 18 जून, 1858 को यह ऐतिहासिक युद्ध आरम्भ हुआ। प्रायः सभी मोर्चो पर लगभग छह घटे तक घोर लड़ाई चलती रही। तोपो और बंदूको की गर्जना से नगर गूंज उठा। अंग्रेजी सेना की सख्या और प्रशिक्षण के मुकाबले मे पेशवा तथा रानी की संयुक्त सेनाए बहुत कमजोर थी। फिर भी वे बीरतापूर्वक तोप-बदूक और तलवारो से निरतर युद्ध करती रही किन्तु छह घटे के बाद गोला-बारूद समाप्त होने के बाद उनके पाव उखडने लगे। अंग्रेजो के पास गोला-बारूद का विपुल भडार था।

अन्त मे केवल सरदार मुन्ना साहब की कोठी का मोर्चा ही कायम रहा, जहा रानी लक्ष्मीबाई स्वय जनरल ह्यू रोज के मुकाबले मे लड रही थी। धीरे-धीरे वहा के सैनिक भी भागने लगे। अब अंग्रेजी सेना का सारा दबाव रानी तथा राव साहब पेशवा पर आ पडा। तात्या टोपे भी कम्पू का मोर्चा उखड जाने पर किसी प्रकार रानी की सहायता को इधर आ पहुंचे किन्तु वे भी स्थिति को सभाल नहीं सके।

अन्ततः घायल रानी घोड़े पर सवार होकर कुछ सैनिको तथा दासियों के साथ युद्धक्षेत्र से बाहर निकल गयी। अंग्रेज सैनिकों ने रानी का पीछा किया और गोलियां चलाते रहे। तब तक रानी बाबा गगादास की शाला के पास वाले नाले तक आ पहुंची थी। अधिक क्षत-विक्षत हो जाने के कारण रानी घोडे से गिर पडी और प्राण त्याग दिये। शीघ्र ही अंग्रेजी सेना के घुड़सवार पीछा करते हुए उसी स्थान पर आ पहुंचे किन्तु वहां केवल घोड़े को देखकर उन्हे रानी के दाह-सस्कार की सूचना मिली।

परिणाम

यद्यपि इस युद्ध मे भी अग्रेजो की विपुल सैनिक-शक्ति के सामने रानी की हार हुई, तथापि इस युद्ध ने भारतीय जन-मानस में आजादी की भावना को और तीव्र किया। एक बार फिर आपसी फूट और स्वार्थलिप्सा ने विदेशियों को विजय दिलायी। ब्रिटिश साम्राज्य का पूरे देश पर सुदृढ़ शासन स्थापित हुआ। ब्रिटिश सेना की जीत का प्रमुख आधार रहा—तोपखाना। इसके अतिरिक्त अन्य परम्परागत शस्त्रास्त्रो का भी इस्तेमाल किया गया।

सिख-अंग्रेज युद्ध
(Anglo-Sikh Wars)

काल : 1845-49, स्थान : भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमात प्रदेश

सोलहवीं शताब्दी में गुरु नानक ने जिस सिख संप्रदाय का गठन किया, वह अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक मात्र धार्मिक सप्रदाय नहीं रह गया बल्कि भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमात प्रदेशो मे प्रमुख सैनिक-शक्ति भी बन गया। इसका सबसे अधिक उत्थान तब हुआ जब छोटी-छोटी मिसलो (टुकड़ों) मे विभाजित इस सैन्य शक्ति को महाराजा रणजीत सिह (1780-1839) ने एक बना कर प्रथम सिख राज्य की स्थापना की। जब तक रणजीत सिह जीवित रहे, अग्रेजों से उनकी खुल कर टक्कर नहीं हुई किन्तु अंग्रेजों के मन मे इस सिख राज्य की बढ़ती शक्ति के प्रति आशंका हमेशा बनी रही। रणजीत सिह की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और सिख राज्य मे फूट पड़ती चली गयी। अग्रेजो ने इस स्थिति से लाभ उठाया और सिखो के विरुद्ध एक के बाद एक, कई युद्ध छेड़ कर न केवल उन्हे पराजित किया बल्कि रणजीत सिह द्वारा जीते गये सभी प्रदेशों को अपने साम्राज्य मे मिला लिया . .

महाराजा रणजीत सिह से पहले तक सिख मिसलो (Misls) मे बटे और बिखरे थे। 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे रणजीत सिह ने इन छोटी-छोटी मिसलो को पराजित कर एक सशक्त सिख साम्राज्य की स्थापना की और एक सैनिक शक्ति के रूप में सिखो की ऐसी पहचान बनायी जो धर्म और राष्ट्र की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहते।
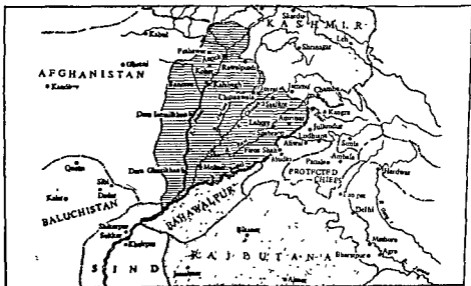
1767 मे अहमद शाह दुर्रानी द्वारा अंतिम रूप से भारत छोड देने के बाद सिखो ने पंजाब के उन सभी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया, जो अहमद शाह दुर्रानी के आधिपत्य में थे। उन छोटी-छोटी मिसलो को मिलाकर सिखो द्वारा अधिकृत भू-क्षेत्र का फैलाव सहारनपुर के पश्चिम से ऐटोक (Attock) तक तथा कांगडा व जम्मू से मुलतान तक था। कुल मिलाकर बारह मिसलें थी और साम्राज्य स्थापित करने से पहले तक रणजीत सिह भी ऐसे ही एक मिसल के सरदार थे।

1798 मे अहमदशाह अब्दाली के पोते ज़माशाह (Zaman Shah) ने रणजीत सिह को राजा की उपाधि देकर लाहौर का सूबेदार (गवर्नर) नियुक्त कर दिया। इस समय रणजीत सिह की आयु केवल 19 वर्ष थी। यू तो सिख मिसलो में रणजीत सिह की तुलना मे कई बडे और प्रभावशाली सरदार थे किन्तु 1793 से 1798 तक हुए आक्रमणो मे जमाशाह को रणजीत सिह की महत्त्वपूर्ण सेवाए प्राप्त हुई थी। इसका बदला चुकाया जमाशाह ने रणजीत सिह को राजा की उपाधि देकर और लाहौर का सूबेदार बना कर। इसके साथ ही, रणजीत सिह ने अपने सफल सैनिक जीवन का आरम्भ किया। अपनी वीरता से उन्होंने पंजाब मे वर्षो से चले आ रहे अफगानी प्रभुत्व को समाप्त करके एक सुदृढ़ राजतन्त्र की नींव डाली। सतलुज पार की मिसलों के सरदारो के बीच मतभेद और झगडे चल रहे थे। रणजीत सिंह ने धीरे-धीरे उन्हें अपने राज्य में मिला लिया।

1809 तक उन्होंने मध्य पजाब को अपने अधिकार मे ले लिया था किन्तु 1809 मे अंग्रेजों के साथ हुई अमृतसर-सन्धि (Treaty of Amritsar) के अनुसार सतलुज को विभाजन-रेखा मान लिया गया। इस तरह सतलुज के पूर्व की ओर रणजीत सिह का साम्राज्य-विस्तार रुक गया। उसके बाद रणजीत सिह ने दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की ओर ऐटोक (1813), कश्मीर (1819), डेरा गाज़ी खा (1820), डेरा इस्माइल खा (1821) तथा पेशावर, कागडा, मुलतान, आदि को अपने साम्राज्य मे मिलाया। निरतर विजयो से रणजीत सिह ने एक विशाल तथा शक्तिशाली सिख साम्राज्य की स्थापना तो कर दी किन्तु उसे नियत्रित नही कर पाये। 1839 मे उनसठ वर्ष की आयु मे उनकी मृत्यु हो गयी।

रणजीत सिह की मृत्यु के बाद एक-से-एक कमजोर शासकों का सिलसिला शुरू हुआ और उनमे परस्पर उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर झगड़े और कत्लेआम होने लगे। अस्थिरता और अराजकता के इस दौर में अन्ततः 1843 में रणजीत सिह के सबसे छोटे पुत्र दलीप सिह को राजगद्दी पर बिठाया गया और उसकी माता रानी झिन्दन रीजेंट (सरक्षिका) बनी। परिस्थितियां इस तरह बदलती गयी कि सैनिक शक्ति पर नागरिक प्रशासन का नियंत्रण समाप्त हो गया। अंग्रेज सिखो की बिखरती हुई शक्ति को देख रहे थे। जिन्होंने आजीवन रणजीत सिह के साथ मित्रता बनाये रखी, उन्ही अंग्रेजो के भीतर सतलुज पार के इस विशाल साम्राज्य को अपने साम्राज्य मे विलीन करने की इच्छा बढती गयी।

सिख बहादुरी से लड़े किन्तु हार गये

दूसरे, सिख राजधानी लाहौर के निकट फिरोजपुर में ब्रिटिश छावनी बन जाने से सिख आशंकित हो गये। इसके अलावा अंग्रेजों की ओर से कई ऐसी हरकतें की गयी जिनके कारण सिखो को लगा की अंग्रेज उनकी स्वतन्त्रता छीन लेना चाहते हैं। जैसे, अंग्रेजो ने सतलुज की ओर कई सैनिक टुकडिया भेजी। 1844-45 में सतलुज के आरपार नावो का पुल बनाया जाने लगा। मुलतान पर आक्रमण के बहाने अंग्रेजी सैनिको को सजाया-सवारा जाने लगा। नगर-रक्षा के लिए नियुक्त सेना-दलो को सुदृढ़ बना दिया गया। सिखो को लगा कि यह सारी कार्रवाई अंग्रेजों द्वारा सिखो पर हमले के उद्देश्य से की जा रही है। ईस्ट इंडिया कंपनी अपने साम्राज्य-विस्तार में भी लगी थी।

यह कहना गलत होगा कि सिखों की आशकाए निराधार थी। अंग्रेज तो बहुत पहले से ही सिख राज्य को हडपने की इच्छा रखते थे लेकिन उन्हे आक्रमण का कोई अच्छा-सा बहाना नही मिल रहा था। उन्हें यह बहाना तब मिला जब 11 दिसम्बर, 1845 को सिख सेनाओ की टुकडियों ने सतलुज पार किया। पार करते समय उनका न तो अंग्रेजी सेनाओ ने विरोध किया न मुकाबला। इसका कारण यह नही था कि अंग्रेज तैयार नहीं थे या उन्हे इसकी जानकारी नहीं थी। इसी बात को बहाना बना कर 13 दिसम्बर, 1845 को गवर्नर जनरल हेनरी हार्डिंज ने युद्ध की घोषणा कर दी। उन्होने यह भी घोषणा कर दी कि सतलुज के बाये किनारे के सिखों के सभी अधिकृत स्थान ब्रिटिश राज्य मे मिला लिये गये हैं और अब सिखो का उन पर कोई अधिकार नही।

युद्ध का प्रारम्भ

1845 से 1849 तक इन चार वर्षों की अवधि मे सिखो और अंग्रेजो के मध्य दो भीषण युद्ध हुए। प्रथम युद्ध 18 दिसम्बर, 1845 को मुदकी (Mudki) मे हुआ। वह एक धुंध भरी साझ थी। ब्रिटिश जनरल लॉर्ड गफ (Lord Gough) के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना ने उत्साह और आत्मविश्वास के साथ रण क्षेत्र मे प्रवेश

किया किन्तु सिख प्रधानमंत्री लालसिंह के नेतृत्व मे सिख सेना की अग्रिम पंक्ति ने उन पर अकस्मात हमला बोलकर दो ही घंटे मे युद्ध की दिशा अपनी ओर मोड ली। लगभग 872 सैनिक तथा कई उच्च सेनाधिकारी मारे गये किन्तु सिख इस प्रारम्भिक सफलता का उल्लास भी न मना पाये थे कि युद्ध के निर्णायक दौर में लालसिंह के रणक्षेत्र से पलायन के कारण उत्साह ठंडा पड़ गया और पराजित सेना शिविर को लौट आयी।

21 दिसम्बर को दोनो सेनाओ मे दूसरी मुठभेड फिरोजशाहर मे हुई। ब्रिटिश सेना को पुनः अपने शत्रु के शौर्य का लोहा मानना पडा। यह मुठभेड एक बार फिर अंग्रेज सेनाधिकारियों के लिए जानलेवा सिद्ध हुई किन्तु रात में लालसिंह और सुबह प्रधान सेनापति तेजासिंह के पलायन के कारण विजय सिख सेना के हाथ से फिसल गयी।

तीसरी मुठभेड़ 21 जनवरी, 1846 को बद्देवाल (Buddewal) में हुई। रणजोध सिंह तथा अजीत सिंह के नेतृत्व मे सिख सेना ने हैरी स्मिथ की ब्रिटिश सेना को पराजित किया। चौथी मुठभेड़ 28 जनवरी को अलीवाल (Aliwal) में हुई किन्तु 10 फरवरी को सबराओ (Sobraon) की अंतिम मुठभेड काफी भीषण और संहारक रही। तीन घंटे की गोलाबारी के बाद ब्रिटिश जनरल लॉर्ड गफ ने सतलुज के बाये तट पर स्थित सुदृढ सिख मोर्चे पर आक्रमण किया। युद्ध जीतने के बावजूद अंग्रेजों को भारी सैनिक क्षति पहुची। शायद पहली बार 12 ब्रिटिश जनरलो को जान गवानी पड़ी। 24वी पैदल सेना टुकड़ी को युद्ध के बाद युद्ध के अयोग्य घोषित कर दिया गया।

इस प्रथम सिख-अंग्रेज युद्ध मे सिख इस कारण नही हारे कि अंग्रेजो की शक्ति बहुत विशाल तथा सुदृढ थी बल्कि उन्हे युद्ध के नाजुक दौर में सेनानायको के रणक्षेत्र से पलायन के कारण पराजित होना पडा। गुलाब सिंह ने जानबूझ कर समय पर रसद नही पहुचाई, लालसिंह ने युद्ध मे सामयिक सहायता नही दी। प्रधान सेनापति तेजासिंह ने युद्ध के चरमबिंदु पर पहुचने के समय न केवल मैदान ही छोडा बल्कि सिख सेना के पार्श्व में स्थित नाव के पुल को भी तोड दिया। अतः सिख सैनिकों के सामने आत्मसमर्पण के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं था।

लाहौर की सन्धि

20 फरवरी, 1846 को विजयी अंग्रेज सेना लाहौर पहुंची। लाहौर की सन्धि (9 मार्च, 1846) के अनुसार सिखों को सतलुज की बायीं ओर तथा जालंधर-दोआब (सतलुज-व्यास नदियो के बीच के प्रदेश) अंग्रेजो को देने पडे तथा सैनिक शक्ति को कम करना पड़ा। लॉरेंस को ब्रिटिश रेजिडेंट नियुक्त कर विस्तृत प्रशासकीय अधिकार सौंप दिये गये। अल्पवयस्क महाराजा दलीप सिंह की माता तथा अभिभावक रानी झिन्दन की पेंशन नियत कर दी गयी। युद्ध की

क्षतिपूर्ति के रूप मे अग्रेजो ने सिखो से 15 लाख पाउंड अथवा 5 लाख पाउड व कश्मीर देने को कहा। सिखो ने दूसरा विकल्प अपनाया। अंग्रेजो ने बाद में कश्मीर जम्मू के राजा गुलाब सिह को 10 लाख पाउड मे दे दिया।

चिलियांवाला (Chilianwala) का द्वितीय युद्ध

किन्तु यह शाति देर तक स्थिर न रह सकी। उत्तराधिकार दंड मागे जाने पर मुलतान के गवर्नर मूलराज द्वारा दिये गये त्याग-पत्र की घटना ने राष्ट्रीय स्वरूप ले लिया। फलस्वरूप अशाति और अराजकता फैलने लगी। परिस्थितियो को नियत्रित करने के लिए लाहौर दरबार द्वारा खानसिह के साथ भेजे गये दो ब्रिटिश अधिकारियों की हत्या कर दी गयी। इसलिए मलराज का विद्रोह द्वितीय युद्ध का एक कारण बना।

दूसरे, सिखो को उकसाने तथा राजद्रोह के आरोप मे राजमाता रानी झिन्दन को शेखूपुरा मे बदी बना लिया गया तथा बाद मे पजाब से निष्कासित कर दिया गया। सिख इस अपमान से बहुत दुखी हुए और अंग्रेजो से बदला लेने की बात उनके मन मे बैठ गयी।

13 जनवरी, 1849 को लडे गये चिलियावाला के इस दूसरे सिख-अग्रेज युद्ध मे सिख सेना का नेतृत्व हरिसिह नलवा का पुत्र जवाहरसिह नलवा कर रहा था। इस युद्ध मे अंग्रेजो की सर्वाधिक क्षति हुई। अग्रेज अपने सभी मृतको, छह तोपो तथा कुछ झंडो को पीछे छोड गये। युद्ध के मृतकों व घायलों की सख्या 2,400 थी, जिसमें 89 अफसर थे। दस्तावेजो के अनुसार किसी अग्रेज सेनापति ने इतना भयकर युद्ध नही लडा था जितना लॉर्ड गफ ने लडा। दोनो ही तरफ से संघर्ष इतना पैना और तीव्र था कि सवाल अनसुलझा ही रहा कि जीत अंग्रेजो कि हुई या सिखो की। दोनो ही पक्ष जीत का दावा करते रहे।

इस युद्ध की दूसरी मुठभेड 21 फरवरी को गुजरात मे हुई जो निर्णायक रही। इसमे सिख पूर्णत पराजित हुए तथा 12 मार्च को यह कहकर कि आज रणजीत सिह मर गये, सिख सैनिको ने हथियार डाल दिये। 29 मार्च को पजाब ब्रिटिश साम्राज्य का अग घोपित कर दिया गया।

परिणाम

के
ल
रह
से यह लिखवा लिया गया कि शासन पर उसका कोई अधिकार अथवा हस्तक्षेप नही होगा। अग्रेजो ने उसे 50,000 पौड वार्षिक की राशि पेशन के रूप मे देनी नियत कर ली। लॉर्ड डलहौजी ने पजाब को ब्रिटिश साम्राज्य में विलीन करते हुए उसकी सीमाओ की रक्षा का दायित्व ब्रिटिश सेना को सौप दिया।

प्लासी की लड़ाई
(The Battle of Plassey)

काल . 23 जून, 1757, स्थानः प्लासी का मैदान (पश्चिमी बगाल)

बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला और अंग्रेजो के बीच 1757 में हुई प्लासी की लड़ाई परिणाम की दृष्टि से ससार की अनेक बड़ी-बड़ी लड़ाइयो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इससे बंगाल पर अंग्रेजो की विजय और प्रभुता तो सिद्ध हुई ही, सपूर्ण भारत में अग्रेजी राज्य की स्थापना का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि सिराजुद्दौला की विशाल सेना क्लाइव और वाटसन के नेतृत्व वाली मुट्ठी भर सेना को सिर्फ इस कारण से पराजित नहीं कर पायी क्योकि यह पारिवारिक द्वेष, स्वार्थ, कलह और फूट का शिकार थी और ये भावनाएं तत्कालीन भारत के सामाजिक-राजनैतिक परिवेश का अभिन्न हिस्सा थीं....

'क्या कोई सेना सख्या और प्रहार-शक्ति मे अपने से 20 गुना शक्तिशाली सेना को भी हरा सकती है?' इस प्रश्न का सहज उत्तर होना चाहिए—नही। लेकिन भारतीय इतिहास के पन्ने पलटने पर जब आखे प्लासी की लडाई पर टिकती हैं तो उत्तर मिलता है—हा।
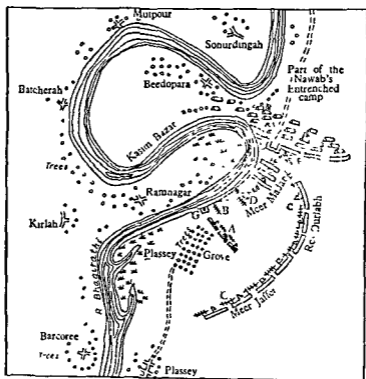
बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला से युद्ध ठन जाने पर जब ब्रिटिश कर्नल रॉबर्ट क्लाइव तथा एडमिरल वाटसन अपनी छोटी-सी सेना लेकर प्लासी में उससे लड़ने चले तो किसने सोचा होगा कि यह जरा-सी फौज नवाब की विशाल सेना पर विजय पा लेगी। लेकिन 23 जून, 1757 को हुए इस युद्ध ने कुछ ऐसा रंग दिखाया कि असभव सभव हो गया।

इसमे कोई सदेह नही कि प्लासी के मैदान में अंग्रेजों की जीत का एक बहुत बडा कारण नवाब के दो सेनापतियो—मीर जाफर तथा राय दुर्लभ और धनी बेंकर जगत सेठ की गद्दारी थी। अगर मीर जाफर गद्दी के लालच में अंग्रेजों से नहीं जा मिलता तो क्लाइव की मुट्ठी भर फौज के टुकड़े-टुकड़े हो जाते। क्लाइव के पास कुल सेना 3000 थी, जिसमें 800 यूरोपियन, 200 तोपची और 2000 भारतीय सिपाही थे। उसके पास आठ 6 पाउडर और दो हॉविट्जर तोपें थीं। इसके मुकाबले नवाब सिराजुद्दौला की सेना में 35,000 सैनिक, 15,000 घुड़सवार और 53 भारी तोपें थी, जिनका नेतृत्व लगभग 50 दक्ष फ्रांसीसियों के हाथों में था।

युद्ध का प्रारम्भ

क्लाइव की सेना 22 जून की रात को प्लासी के निकट पहुची और उसने 800 गज लम्बे तथा 300 गज चोड़े एक आम के बाग में डेरा डाल दिया। इसमें पेड सीधी कतारों मे लगे थे जो सैनिकों का दुश्मन की गोलाबारी से बचाव कर सकते थे। बाग के पीछे भागीरथी (हुगली) नदी उसकी रक्षा करती थी। नवाब सिराजुद्दौला की सेना ने यहीं पडाव डाला। उसने एक ऊंचे स्थान पर अपना तोपखाना सजाया। नवाब का फ्रांसीसी तोपखाना क्लाइव की ब्रिटिश सेना के सब से निकट था। तोपखाना नवाब के सब से वफादार सेनापति मीर मदन के 5000 घुडसवारों और 7000 सैनिको के नेतृत्व मे था। मीर जाफर अपनी सेना के साथ सबसे अंतिम छोर पर, क्लाइव के सबसे निकट था।

[illegible]

यूरोपियन सैनिको को पक्तिबद्ध खड़ा किया। देशी सिपाहियों को उसने दोनो पार्श्वों की रक्षा के लिए लगाया।

नवाब के फ्रांसीसी तोपखाने की गोलाबारी के साथ लडाई शुरू हुई। जवाब मे अंग्रेजो ने भी गोलाबारी की पर उन तोपो की साधारण मार को नवाब की सेना ने आसानी से झेल लिया। इस आरम्भिक झड़प में 10 यूरोपियन और 20 देशी सिपाहियो के हताहत होने पर क्लाइव कुछ विचलित हुआ और उसने शिकारगाह से अपने सैनिको को वापस आम के बाग की सुरक्षा मे ले लिया। कुछ देर बाद एकदम मूसलाधार वर्षा शुरू हो गयी। इससे नवाब का गोलाबारूद भीग कर

युद्ध का दृश्य (इनसैट में) रॉबर्ट क्लाइव

बेकार हो गया और उसकी तोपे भी कीचड मे धस गयीं। ब्रिटिश इस लिहाज से दूरदर्शी निकले। उन्होंने तिरपालो का प्रबध कर रखा था जिनके नीचे उन का बारूद पूरी तरह सुरक्षित था।

नवाब के वफादार सेनापति मीर मदन ने तभी एक और गलती की। उसने सोचा, जिस तरह हमारा तोपखाना वर्षा के कारण ठडा पड गया है, उसी तरह दुश्मन की तोपे भी ठडी हो गई होगी। अतः वह अपने घुडसवार दस्ते को ले कर आगे बढा। क्लाइव के तोपखाने ने इस दस्ते का धुआधार गोलाबारी से स्वागत किया। मीर मदन के बहादुर सवारो को बिलबिला कर पीछे हटना पडा। खुद मीर मदन बुरी तरह घायल हो गया।

सबसे वफादार सेनापति के चोटग्रस्त होने से नवाब सिराजुद्दौला घबरा गया। उस ने मीर जाफर को बुला कर पगडी उसके सामने रख दी और हाथ फैला कर लाज की भीख मांगी। मीर जाफर ने एक ओर तो नवाब के सामने वफादारी की कसम खाई और दूसरी ओर, पत्र लिख कर क्लाइव को इन तमाम परिस्थितियों से अवगत कराते हुए तुरंत या फिर रात होने पर हमला करने की सलाह दी। दक्षिणी पार्श्व के सेनापति राय दुर्लभ ने भी इस अवसर पर विश्वासघात किया।

मोके का फायदा उठाते हुए क्लाइव ने हमला बोल दिया। उसने उस स्थान पर कब्जा कर लिया, जहा से फ्रासीसी तोपखाना पीछे हटा था। उसने वहां से तोपखाने के नये मोर्चे पर हमला किया। नवाब के सिपाहियों में हिम्मत और बहादुरी की कमी न थी लेकिन नेतृत्व करने वाले गद्दारो के गलत आदेशो ने उन्हे पीछे हटने को विवश कर दिया था। पाच बजते-बजते प्लासी का मैदान क्लाइव के हाथों मे था। ब्रिटिश साम्राज्य की जीत हुई।

परिणाम

प्लासी मे विजय क्लाइव के लिए सामरिक महत्त्व की विजय न थी किन्तु इसने भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की नींव अवश्य रख दी। प्रायः इतिहासकार मीर जाफर, राय दुर्लभ, आदि को देश के गद्दारों के रूप में चित्रित करते हैं किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस समय राष्ट्रीयता की कोई धारणा थी ही नहीं और सत्ता प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र करना मामूली बात थी।

अग्रेजो ने बगाल की नवाबी मीर जाफर को जरूर सौंप दी किन्तु यहीं से क्लाइव के दुहरे शासन का आरम्भ हुआ।
और मीर जाफर नाममात्र का नवाब बना ...
अग्रेजो ने अन्य देशी रियासतों मे भी लागू की।

भारतीय प्रदेशों को उपनिवेश बनाने से सबंधित जो प्रतिद्वंद्विता अंग्रेजों और फ्रासीसियो के बीच चली आ रही थी, वह इस लडाई के बाद लगभग समाप्त हो गयी। अंग्रेज विजयी रहे।

नादिरशाह का दिल्ली पर आक्रमण
(Nadir Shah's Delhi Invasion)

काल : 1739; स्थान : दिल्ली

डकैतों के सरदार से फारस का बादशाह बना नादिरशाह अंतिम शक्तिशाली मुग़ल बादशाह औरंगजेब की मृत्यु (3 मार्च, 1707) के ठीक 32 वर्ष बाद दिल्ली में 57 दिनों तक लूट-पाट और कत्ले-आम करता रहा जबकि मुग़ल बादशाह मुहम्मदशाह उसके सामने यह सब बंद करने के लिए गिड़गिड़ाता रहा। नादिरशाह जब यहां से स्वदेश लौटा तो प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा सहित बादशाह के ताज के सभी रत्न और नकद करोड़ों रुपये भी ले गया। भीतर से शक्तिहीन और पतनशील मुग़ल साम्राज्य नादिरशाह के इस आक्रमण से फिर कभी उभर नहीं पाया और देश पर विदेशी आक्रमणों की एक बार फिर शुरुआत हो गयी.....

औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुग़ल साम्राज्य का पतन शुरू हो गया। प्रशासनिक अयोग्यता और गद्दी के लिए खींचतान के कारण कोई भी शासक विशाल साम्राज्य को संभाल नही पा रहा था। सरदारो और दरबारियो के स्वार्थपूर्ण रवैये से स्थिति और भी बिगड गयी। चूंकि भारत अपनी समृद्धि के लिए विख्यात था, प्राचीनकाल से ही बाहरी आक्रमणकारी यहां धन के लोभ में आते रहते थे, मुग़ल साम्राज्य के कमजोर पड जाने से एक बार फिर विदेशी आक्रमण का संकट पैदा होने लगा। इस बार यह आक्रमण मध्य एशिया से नहीं, फारस की ओर से हुआ। फारस का बादशाह नादिरशाह मुगलो से कंधार पहले ही छीन चुका था। अब उसकी दृष्टि दिल्ली पर लगी थी।

नादिरशाह का जन्म एक अत्यन्त साधारण परिवार मे हुआ था। प्रारम्भ में वह डकैतो का सरदार था। चूंकि उसका जीवन कष्टों और कठिनाइयों में बीता था, उसमें साहस तथा वीरता के गुण स्वाभाविक रूप से आ गये। अफगानो ने 1722 मे शाह हुसैन सफावी से फारस छीन लिया था। नादिरशाह ने इसे वापस लेने मे सहायता की और इस प्रकार, शाही खानदान के निकट पहुच गया। शाह हुसैन का पुत्र शाह तहमास्य अयोग्य सिद्ध हुआ और तब 1732 मे उसे गद्दी से उतार कर नादिरशाह स्वय बैठ गया।

नादिरशाह 1738 मे सेना लेकर भारत की ओर रवाना हुआ। इस आक्रमण के लिए उसने बहाना बनाया कि मुगल बादशाह मुहम्मद शाह ने दिल्ली दरबार मे फारस के राजदूत का अपमान किया। मुगलो के उत्तरी-पश्चिमी सीमा की प्रतिरक्षा की ओर से अत्यन्त असावधान रहने के कारण नादिरशाह ने बडी आसानी से 1739 में गजनी, काबुल तथा लाहौर पर अधिकार कर लिया।

जब नादिरशाह ने खैबर दर्रे (Khyber Pass) को पार किया तो लाहौर के गवर्नर जकारिया खान ने मुगल बादशाह मुहम्मद शाह को सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए पत्र लिखा किन्तु उसने तथा उसके सामंतो ने लाहौर के गवर्नर की सहायता की अपील को लापरवाही और अनादर के साथ ठुकरा दिया। जब नादिरशाह लाहौर तक आ पहुचा तब उनकी आंखें खुली।

मुहम्मदशाह ने नादिरशाह का मुकाबला करने के लिए खानदौरां और निजामुलमुल्क को अपना सेनापति नियुक्त किया लेकिन उन्होने स्वयं को अयोग्य घोषित कर बादशाह की आज्ञा मानने से इंकार कर दिया। तब खुद बादशाह ने सेना की बागडोर सभाली और आक्रमणकारी का मुकाबला करने चल दिया।

करनाल मे नादिरशाह की फौज ने मुगल सेना को चारों ओर से घेर लिया। उधर अवध का नबाब सआदत खा बिना तैयारी किये ही लड़ाई के मैदान में कूद पडा। उसे हरा कर कैद कर लिया गया। खानदौरां बुरी तरह घायल हुआ। मरणासन्न स्थिति मे उसने आने वाले खतरो को जानते हुए अपने दोस्तो से कहा कि जैसे हो नादिरशाह को दिल्ली से बाहर ही रखना। उसे कुछ देकर तत्काल वापस जाने के लिए वहला-फुसला लेना। किन्तु इस नेक सलाह को मुहम्मदशाह के सरदार और सामत गभीरता से नही समझ पाये।

हारने के बाद मुगलो के खेमो मे भगदड मच गयी। निजाम ने मध्यस्थ का काम किया। उसने नादिरशाह को दो करोड रुपये देकर ईरान जाने के लिए राजी कर लिया। निजाम से प्रसन्न होकर मुगल सम्राट ने उसे "अमीर-उल-उमरा" का खिताब देकर प्रधानमत्री नियुक्त किया। यह देख सआदत खा ईर्ष्या और द्वेष से जल उठा। वह अकेले में नादिरशाह से मिला। उसने ईरानी बादशाह से कहा—"हुजूर, दो करोड जैसी छोटी रकम से आप कैसे सतुष्ट हो गये? इतनी छोटी रकम तो किसी भी प्रात का गवर्नर अपने घर से दे सकता है।" सुनते ही नादिरशाह की आखो में दिल्ली का अपार धन-वैभव दपदपाने लगा।

विजयी नादिरशाह तथा दिल्ली का अपमानित मुगल बादशाह मुहम्मद शाह, दोनो इकट्ठे ही दिल्ली पहुचे। दिल्ली पहुचते ही नादिरशाह ने दीवाने-खास के समीप राजमहल पर अधिकार कर लिया। पहले तो राजधानी मे कोई अव्यवस्था नही थी परन्तु कुछ शरारती लोगो ने नादिरशाह की मृत्यु की अफवाह फैला दी। इससे दगा शुरू हो गया जिसमे कुछ फारसी सिपाही मारे गये। आधी रात मे नादिरशाह के सेनाधिकारी डरते और कापते उसके पास पहुंचे और उसे इस बारे मे बताया।

कत्लेआम का हुक्म

सुबह होते ही नादिरशाह घोडे पर सवार हो कर शहर में गया। वहां उसने गलियो मे ईरानी सैनिको की लाशे देखी। रोशनुद्दौला की सुनहरी मस्जिद के

पास कुछ लोगों ने उस पर पत्थर फेंके। बंदूक की गोली से एक ईरानी सेनानी भी मर गया। अपने सैनिकों की लाशें देखकर वह गुस्से से बिफर उठा।

11 मार्च, 1739 को प्रातः 9 बजे क्रोधाग्नि में जलते हुए उसने हुक्म दिया कि ईरानियों की हत्या करने के बदले में दिल्ली की जनता को नेस्तनाबूद कर दिया जाये। आज्ञा मिलते ही हजारों सैनिक निरीह जनता पर टूट पडे। चांदनी चौक, सब्जी मंडी, दरीबा कला और जामा मस्जिद के आसपास के मकानो मे आग लगा दी गयी। छिपे हुए आतंकित बच्चे और औरतें धू-धू कर जलने लगे। भागने वाले लोग भालो, तलवारों और तीरो से धराशायी कर दिये गये। निरंतर पांच घंटे तक नृशंसता का यह तांडव दौर चलता रहा। जमीन लाशो से पट गयी और रक्तरंजित हो गयी। नादिरशाह ने मुहम्मदशाह के अमीर-उमराव के अनुरोध पर ही अपने सैनिकों को कत्लेआम रोकने का आदेश दिया।

इतिहासकार फ्रेजर का कहना है कि उस दिन लगभग दो लाख व्यक्तियों का खून-खच्चर हुआ होगा। जबकि प्रसिद्ध इतिहासकार यदुनाथ सरकार के अनुसार मरने वालो की संख्या लगभग 20,000 रही होगी। शहर की लूट के अतिरिक्त लाल किले मे रखे शाही जवाहरात, सोना-चांदी अथवा अन्य उपयोगी और बहुमूल्य सामान को ईरानी विजेताओ ने हथिया लिया। शाहजहा द्वारा बनवाये गये बेशकीमती 'मयूर-सिंहासन' तथा अमूल्य कोहेनूर हीरे को भी लूटकर नादिरशाह ईरान ले गया। इस प्रकार नादिरशाह ने मुग़लो द्वारा संचित 348 वर्षों की अपार संपत्ति को क्षणभर में लूट लिया। इतिहासकारो का कथन है कि लगभग 50 करोड रुपये के जवाहरात, एक करोड़ रुपये का सोना, 60 लाख रुपये तथा लाखों अशर्फियां नादिरशाह के हाथ लगी। उसने 57 दिन तक अपनी सेना सहित दिल्ली को जी भर कर लूटा और जाते वक्त 70 करोड़ रुपये मूल्य के सोना-चांदी, जवाहरात, आदि के अतिरिक्त 100 हाथी, 7000 घोडे, 10,000 ऊंट, 100 नाजिर, 130 लेखक, 200 सुनार, 300 कारीगर, 100 संगतराश तथा 200 बढ़ई भी अपने साथ ले गया।

परिणाम

नादिरशाह की इस लूट ने मुग़ल साम्राज्य की प्रतिष्ठा को धूल में मिलाकर रख दिया। मुग़ल साम्राज्य के पतन और विघटन के कारण भविष्य में अनेक आक्रमणों का सामना करना पड़ा। विदेशी आक्रांताओं को भारत का वैभव फिर लुभाने लगा और बार-बार के आक्रमणो से अपार आर्थिक क्षति हुई। सिंध नदी के पार के प्रांत (सिंध, काबुल तथा पंजाब के पश्चिमी भाग) फारसियों को सौंपने पड़े। नादिरशाह से प्रेरणा लेकर बाद मे अहमद शाह अब्दाली ने 1748 से 1767 तक भारत पर कई आक्रमण किये।

कंधार की लड़ाइयां
(The Battles of Kandahar)

काल - 1648 1653 , स्थान · कंधार (वर्तमान अफगानिस्तान का प्रदेश)

उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर मुगलों की स्थिति को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से मुगल बादशाह शाहजहां ने कंधार को अपने अधिकार में लेने का निर्णय किया। कंधार के फारसी सूबेदार अली मर्दान खां को धन-सम्मान देकर शाहजहां ने अपनी नौकरी में रख लिया। तब फारस के शाह अब्बास द्वितीय ने दिसम्बर 1648 में उस पर घेरा डाल दिया। बर्फ के कारण कंधार के मुगल शासक को समय पर सहायता नहीं मिल सकी और उसने फरवरी 1649 में आत्मसमर्पण कर दिया। यह कंधार की पहली लड़ाई थी। दूसरी लड़ाई तब हुई जब शाहजादा औरंगजेब के नेतृत्व में कंधार पर कब्जे की कोशिश की गयी। असफलता मिलने पर तीन वर्ष बाद शाहजादा दाराशिकोह के नेतृत्व में कोशिश की गयी जो असफल रही। इस प्रकार, बारह करोड़ रुपयों का नुकसान उठाने के बाद शाहजहां ने कंधार पर कब्जा करने का विचार ही छोड़ दिया.... .

आज के अफगानिस्तान का कंधार प्रदेश 1747 से पहले तक भारत का ही अंग था और इसने भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भारत पर विदेशी आक्रमणों के लिए यह प्रवेश-द्वार का काम करता था तो भारतीय शासकों के लिए उनसे बचाव का पहला सुरक्षा-मोर्चा भी यही था।

उठाकर फारस के वादशाह शाह अब्बास ने जून, 1623 में कंधार पर अधिकार कर लिया।

जहागीर वहुत चाहने पर भी अपने जीवनकाल में कंधार को वापस नही जीत पाया। उसकी मृत्यु के वाद शाहजहां ने गद्दी पर वैठते ही कधार पर अधिकार करने का निर्णय लिया किन्तु आंतरिक परिस्थितियों से विवश होने के कारण उसे अपना निर्णय पूरा करने में कई वर्ष लग गये। उसने कधार के फारसी सूबेदार अली मर्दान खा को वहुमूल्य उपहार दे कर अपनी ओर मिला लिया। मुगल वादशाह ने उसे काफी धन और सम्मान दिया। अली मर्दान ने कंधार शाहजहां को सौप दिया।

उन दिनों फारस की गद्दी पर शाह अब्बास द्वितीय था। उसने कधार पर कब्जा करने के लिए जाडे का मौसम चुना क्योंकि बर्फ के कारण भारत से सहायता पाना कठिन था। 16 दिसम्बर, 1648 को उसने कंधार पर घेरा डाला और 11 फरवरी, 1649 के दिन मुगल शासक दौलत खा ने आत्मसमर्पण कर दिया। तव शाहजहां ने कंधार को दुवारा कब्जे में लेने के लिए शाहजादा औरगजेब और प्रधानमत्री सादुल्ला खा के नेतृत्व में मई, 1649 में एक वडी सेना भेज दी।

युद्ध का प्रारम्भ

प्रधानमत्री सादुल्ला खा के साथ औरगजेव 50,000 सैनिकों को साथ लेकर गजनी के रास्ते आगे वढ़ा और मई, 1649 में कंधार आ पहुचा। उसने तुरन्त किले को चारो ओर से घेर लिया। गर्मी भर लड़ाई चलती रही लेकिन घिरी हुई सेनाओं पर कुछ असर नहीं हुआ क्योंकि वे पहले से ही फारस से काफी मदद पा चुके थे। मुगल सेना को काफी नुकसान उठाना पड़ा क्योंकि उसके पास न तो ठीक प्रकार से रसद ही आ पाती थी और न ही युद्ध-सामग्री। उनके पास बमवारी करने वाली वडी तोपे भी नही थी। औरगजेब ने घेरा उठा लिया और सितम्बर, 1649 मे लाहौर के लिए रवाना हो गया।

1652 में शाहजहा ने पुन' कधार लेने का एक और प्रयास किया जिसका नेतृत्व पुनः औरगजेव को सौंपा गया। कधार की यह दूसरी लड़ाई 22 मई, 1652 को प्रारम्भ हुई और दो माह दस दिन तक चली। फारस की तोपो के आगे मुगलों की वीरता फीकी पड़ गयी। उधर उज़्वेगों ने गजनी में सकट उत्पन्न कर दिया। गजनी कंधार और काबुल के रास्ते मे स्थित था। कही फारस और उज़्बेग, दोनों न मिल जायें, इस आशंका से भयभीत होकर शाहजहा ने औरगजेब से घेरा उठा लेने तथा लौट आने को कहा।

तव कधार को जीतने का काम शाहजहां के बड़े बेटे दाराशिकोह को सौंपा गया। दारा एक करोड रुपये, बडी सेना तथा भारी-भारी तोपें लेकर फरवरी, 1653 में कंधार के लिए रवाना हुआ। उसने सबसे पहले आसपास का इलाका

मुग़ल शासक शाहजहां

जीता, ताकि कधार की फौज को फारस से कोई मदद न मिल सके। उसने कधार के पश्चिम मे स्थित विश्त और गिरीषक प्रदेश जीत लिये, आसपास का इलाका उजाड डाला और कधार पर गोलावारी करने की आज्ञा दी। इस गोलावारी से जहां-तहा दुर्ग की दीवारे हिल उठी लेकिन फारस की जोरदार तोपो के कारण मुगल सेना दुर्ग मे प्रवेश करने का साहस न कर सकी। फिर भी दारा को औरगजेब की अपेक्षा अधिक सफलता मिली और इससे फारस की सेना भयभीत हो उठी परन्तु दुर्भाग्यवश शरद् ऋतु के आगमन के साथ शत्रु का पलडा भारी हो गया और फारसी लोगो की स्थिति अधिक दृढ़ हो गयी। इधर मुगलो का गोला-बारूद भी समाप्त हो चला था। इसलिए अक्तूबर, 1653 के आरम्भ मे सेना को वापस बुला लिया गया। इस प्रकार उसके कधार-विजय के अभियान असफलता के साथ समाप्त हो गये।

परिणाम

कधार के इन तीनो आक्रमणो से मुगल साम्राज्य की आर्थिक दशा को काफी धक्का पहुचा। इनमें लगभग 12 करोड रुपये व्यय हुए और कोई विशेष लाभ न हो सका। एक इच भर भूमि भी मुग़ल-साम्राज्य को न मिल सकी। मुग़ल-साम्राज्य के हाथ से न केवल कधार का अगम दुर्ग ही छिन गया, अपितु आसपास के बहुत से प्रदेश भी उनके हाथ से निकल गये। बहुत से आदमी तथा बोझ ढोने वाले जानवर मारे गये। बादशाह के राजनैतिक तथा सैनिक सम्मान को भी काफी धक्का पहुचा क्योंकि इससे बादशाह की सेना की कमजोरी स्पष्ट हो गयी।

हल्दी घाटी की लड़ाई
(The Battle of Haldighati)

काल : 1576, : स्थान : हल्दी घाटी (राजस्थान)

मुग़ल साम्राज्य के संस्थापक बाबर ने खानवा के युद्ध *(16 मार्च, 1527)* में राजपूतों को पराजित किया था किन्तु राजपूत हिम्मत नहीं हारे थे। बाबर की मृत्यु *(26 दिसम्बर, 1530)* के बाद वे फिर स्वाधीन हो गये। बाबर का पोता महान अकबर जब गद्दी पर बैठा तो राजपूतों की शक्ति को पहचान कर उसने या तो उन्हें मित्र बना लिया या कुचल डाला। किन्तु मेवाड़ ने अधीनता स्वीकार नहीं की। तब अकबर ने अप्रैल, *1576* में एक विशाल शाही फौज मेवाड़ के शासक राणा प्रताप सिंह (महाराणा प्रताप) को सबक सिखाने के लिए भेज दी। हल्दी घाटी में मुकाबला हुआ। महाराणा प्रताप हारे जरूर लेकिन आजीवन मुग़लों से टक्कर लेते रहे और अपूर्व वीरता तथा देशभक्ति के कारण भारत के इतिहास में अमर हो गये....

यद्यपि मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ पर 1568 में मुग़लों का अधिकार हो गया था, तथापि राज्य का एक बडा भाग महाराणा उदयसिंह के अधिकार मे था। उनके पराक्रमी और साहसी पुत्र राणा प्रतापसिंह (महाराणा प्रताप) का राज्याभिषेक 3 मार्च, 1572 को गोगुंडा में बड़ी निराशाजनक परिस्थितियों में किया गया था। सीमित साधन, स्वजनों के असतोष और अपने भाई शक्ति सिंह की शत्रुता की परवाह न करते हुए उन्होंने मुग़ल साम्राज्य के शक्तिशाली सम्राट अकबर का मुकाबला करने का निश्चय किया। मेवाड़ अकबर के लिए एक चुनोती बनता जा रहा था और वह किसी भी तरह उसे हासिल करना चाहता था। परिणामस्वरूप अकबर ने अप्रैल, 1576 मे आमेर के राजकुमार मानसिंह और आसफअली के नेतृत्व मे एक विशाल शाही फौज भेजकर युद्ध की घोषणा कर दी। पूर्वी मेवाड के माडलगढ से कुंवर मानसिंह मोदीनगर के मार्ग से गोगुंडा की ओर चला और व्यास नदी के दक्षिण तट पर स्थित खमनौर गांव और अरावली पर्वत की हल्दी घाटी (वास्तव मे इसका नाम हल्दी घाट की घाटी है किन्तु 'हल्दी घाटी' ही अधिक प्रचलित है) के सामने डेरा डाल दिया।

मुगलो को निकट आते देखकर महाराणा प्रताप ने तग दर्रे के दोनो ओर अपनी सेना जमा ली। जगलो से भरपूर यह पहाड़ी मार्ग इतना सकरा था कि दो सवार अगल-बगल कठिनाई से ही गुजर सकते थे। इसी जगह महाराणा प्रताप ने शाही सेना पर आक्रमण करने की योजना बनायी। मुग़लो की शाही सेना के मुकाबले महाराणा प्रताप की सेना बहुत सीमित थी किन्तु रणबाकुरे राजपूतो के भीतर देशप्रेम हिलोरें मार रहा था।

हल्दी घाटी से आगे बढ़कर राणा ने मुगल सेना पर सीधा आक्रमण किया। आक्रमण इतना जबरदस्त था कि मुगल सेना के अगले और बायें पार्श्व के दस्ते तितर-बितर हो गये तथा दायें और बीच के दस्तों मे हलचल मच गयी। इस प्रारम्भिक सफलता का लाभ उठाने के लिए राणा के पास न तो अतिरिक्त सेना थी और न ही पीछे कोई दस्ता। अत शत्रु के मध्य तथा बाये पार्श्व की सेनाओं को हराने के लिए उसने हाथियो से प्रहार किया क्योंकि दूसरी ओर से आते तीर और गोलियो ने सिसोदिया वीरो के भी छक्के छुड़ा दिये थे। अकस्मात अफवाह फैली कि स्वय सम्राट अकबर मानसिंह की सहायता के लिए आ रहे हैं। फलतः जोश में आकर शत्रु सेना ने राणा को चारो ओर से घेर लिया और ऐसा लगा कि अब राणा मारे जायेगे। ऐसे खतरे के समय झाला के नायक ने राणा के मुकुट और छत्र उनके मस्तक से उतार कर अपने सिर पर रख लिये। शत्रुओं ने उसे राणा समझ कर मौत के घाट उतार दिया। इस प्रकार राणा प्रताप की रक्षा हुई।

मौका देखकर राणा ने हाथी पर बैठे मानसिंह पर भाले से प्रहार किया किन्तु वार खाली गया और भाले ने महावत को बेंध डाला। फिर अपने सेनापति को खतरे मे देखकर मुगल सेना ने राणा को चारों ओर से घेर लिया।

मुग़ल जीते किन्तु राजपूताना शौर्य का लोहा मान कर

राणा का प्रिय घोड़ा चेतक घायल राणा को रणक्षेत्र से बाहर निकाल ले गया किन्तु अत्यधिक घायल होने के कारण वह अचेत होकर जमीन पर गिर कर मर गया। प्रिय चेतक की विदाई से राणा एकदम टूट गये। अब तक राणा के सैनिकों की हिम्मत भी टूट चुकी थी। फलत: वे भी युद्धक्षेत्र से भाग निकले। अन्तत: मानसिंह को हल्दी घाटी के युद्ध में सफलता मिली। राणा प्रताप ने गोगुंडा को खाली कर दिया और मानसिंह ने उसपर अपना आधिपत्य घोषित कर दिया।

परिणाम

कई मायनो मे यह युद्ध बडा महत्त्वपूर्ण है। पारस्परिक फूट, विघटन और सीमित सैन्य-बल खुलकर सामने आया। मुगल साम्राज्य युद्ध जीतने का उल्लास न महसूस कर सका क्योंकि कुंभल गढ़, देवसूरी का दुर्ग, गोगुंडा, आदि ऐसे क्षेत्र थे, जहा मुगलो के पास रसद की कमी थी और जनसामान्य उनके विरुद्ध था।

युद्ध के दौरान स्वाभिमानी सिसोदिया राणा को कई अवसरों पर भूखा भी रहना पड़ा परन्तु उन्होंने मुगलों की पराधीनता स्वीकार न की। इसलिए मानसिंह को अकबर की कृपा-दृष्टि से वंचित होना पड़ा। 19 जनवरी, 1597 को महाराणा प्रताप की मृत्यु के बाद अकबर ने मेवाड पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास किया किन्तु अन्य समस्याओं मे व्यस्त होने के कारण वह इस सुअवसर का लाभ नही उठा सका।

पानीपत की दूसरी लड़ाई
(Second Battle of Panipat)

काल · 1556, स्थान पानीपत (इस समय हरियाणा राज्य मे)

मुग़ल साम्राज्य की स्थापना में पानीपत की पहली (1526) और दूसरी (1556) लड़ाइयों का निर्णायक महत्त्व है। पहली लड़ाई में बाबर ने अफगान शासक इब्राहीम लोदी को हरा कर, दिल्ली और आगरा को जीत कर भारत मे मुगल साम्राज्य की नींव डाली तो दूसरी लड़ाई मे उसके पोते अकबर ने अपने पिता हुमायूं के समय मे दुबारा शासक बन बैठे अफगानों को हरा कर भारत पर प्रभुता के उनके दावे खत्म कर दिये। यह अकबर के जीवन की पहली विजय और दिल्ली पर अधिकार के लिए लड़ने वाले शेरशाह सूरी (1540-1545) के वंशजो की मुग़लों से संघर्ष की अंतिम लडाई सिद्ध हुई .

बाबर ने मुग़ल साम्राज्य की स्थापना तो कर दी किन्तु उसे सुदृढ़ प्रशासनिक आधार देने के लिए जीवित नहीं रहा और कम उम्र में ही चल बसा। उसकी मृत्यु (1530) के बाद हुमायूं 23 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा किन्तु परिस्थितिया उसके विपरीत थीं। घर के अदर भी गद्दी के दावेदार थे और राजपूतो तथा अफगानो के रूप में घर के बाहर भी। यही कारण है कि बाबर की मृत्यु के नौ साल बाद ही हुमायू दिल्ली और आगरा खो बैठा। वह किसी तरह जान बचा कर इधर-उधर भटकता रहा। 1540 से 1554 तक सूरी वश का शासन रहा। 1555 मे हुमायू सूरी वश के उत्तराधिकारियों के बीच गृह युद्ध का लाभ उठा कर दुबारा गद्दी पाने में सफल हुआ। वह सेना सगठित करके साम्राज्य का विस्तार करने निकला ही था कि 1556 मे उसकी मृत्यु हो गयी।

जब हुमायू की मृत्यु के बाद अकबर गद्दी पर बैठा तो बड़ी जटिल परिस्थिति थी। हुमायू बाबर द्वारा जीते गये भू-क्षेत्रों मे से एक बहुत छोटे हिस्से को ही अपने अंतिम जीवनकाल में प्राप्त कर पाया था। अधिकाश क्षेत्रों पर सूरी वंश का ही अधिकार था। अकबर के गद्दी पर बैठते ही सूरी वश के शासक आदिल शाह सूर और उसके सेनापति तथा मत्री हेमचद्र विक्रमादित्य (हीमू) ने आगे बढ़कर मुगलों का विरोध किया। उनके पास विशाल सेना थी।

युद्ध का प्रारम्भ

ग्वालियर की ओर से आकर हीमू ने आगरा पर अधिकार कर लिया ओर उत्तर की तरफ बढ़ते हुए इस्कंदर और तारडीबेग की सयुक्त सेनाओं को तुगलकाबाद मे उखाड फेंका तथा शीघ्र ही दिल्ली पर भी अधिकार कर लिया। मुगल उसे खाली करके भाग गये। दोनों सेनाओ के अग्रिम दल पानीपत मे टकराये।

हीमू के अग्रिम दल में तोपखाने का अधिकांश भाग था। अली कुली खा के नेतृत्व मे मुगलो ने अफगान दल को करारी हार दी और पूरे तोपखाने पर अधिकार कर लिया। तोपखाने के हाथ से निकल जाने से हीमू को बहुत अधिक क्षति पहुंची। हीमू ने अपने हाथियो को लेकर एक ठोस मोर्चा बनाया। उसने पहल की और पूरे मोर्चे पर आक्रमण शुरू कर दिया। आरम्भ में अफगान भारी पडे और मुग़लो के विरुद्ध उन्होने कई सफलताए प्राप्त कीं। केंद्र मे हाथियो ने मुगलों को दबाया। उनके इस पक्ष की कमान अली कुली खां के हाथों थी। उसने दबा हुआ विरोध किया। लगता था कि मुग़ल पराजित हो जायेंगे परन्तु नियति कुछ और ही चाहती थी। अचानक हीमू की आख मे एक तीर लगा और वह बेहोश हो गया। अपने नेता को गिरते देखकर अफगान सेना बुरी तरह घबरा गयी और एकदम बिखर गयी। हीमू पकड़ा गया और उसकी हत्या कर दी गयी। उसकी सर्वोत्तम सेना का सफाया कर दिया गया। यद्यपि हीमू एक विशाल सेना सहित लाभ की स्थिति में था, फिर

भी मुगलो की गुणात्मक श्रेष्ठता ने विजय हासिल की। उन्होंने शत्रु के सभी 1,500 लडाकू हाथी पकड लिये। उसका पीछा दिल्ली तक किया गया और उस पर अविलब अधिकार कर लिया गया।

हीमू की पराजय के कारण

हीमू वैश्य जाति का था। यह जाति सामान्यतः युद्ध से दूर रहती है। केवल अपनी योग्यता के बल पर ही वह उन्नति करके सेनापति और प्रधानमंत्री के उच्च पद पर पहुचा था। अंतिम युद्ध मे पहले उसने अनेक बार विजयश्री प्राप्त की थी। इस युद्ध मे उसने अपना सब कुछ दाव पर लगा दिया था। यह उसकी योग्यता का ही प्रमाण था कि कितने ही मुसलमान सेनापतियो के रहते अफगान सेनाओ के नेतृत्व का भार उसे दिया गया। अभियान के आरम्भ मे उसे कुछ सफलताए मिली थी परन्तु उसने अपने अग्रिम दल के साथ अपना पूरा तोपखाना भेजने की भारी गलती कर डाली। युद्ध के महत्त्वपूर्ण सिद्धात की वह उपेक्षा कर गया। दूसरे, उसे मुगलो की हलचलो और योजनाओ की निश्चित जानकारी न मिल सकी, क्योंकि उसकी गुप्तचर-व्यवस्था बहुत दोषपूर्ण थी।

परिणाम

पानीपत की दूसरी लडाई मे अकबर की जीत ने मुगल साम्राज्य को सुदृढ बनाया। हीमू के पतन के पश्चात् उसकी सेना छिन्न-भिन्न हो गयी। इस युद्ध के राजनैतिक परिणाम और भी अधिक व्यापक सिद्ध हुए। हिंदुस्तान पर अफगानो के पुन अधिकार की सभावनाए सदा के लिए समाप्त हो गयी। विजेताओ ने 6 नवम्बर, 1556 को दिल्ली तथा शीघ्र ही आगरा पर भी अधिकार कर लिया।

खानवा की लड़ाई
(The Battle of Khanwah)

काल . 1527, स्थान . खानवा(आगरा के निकट)

इतिहासकार परिणामो की दृष्टि से पानीपत की पहली लडाई (1526) की तुलना में खानवा की लड़ाई को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है। पानीपत की लडाई से दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी की पराजय हुई थी जब कि खानवा की लड़ाई में राजपूत राष्ट्रीय पुनर्जागरण के नायक राणा सांगा की। राणा सागा इब्राहीम से बड़ा शत्रु था जिसके पास विशाल सेना थी और वह स्वय भी एक महान सेनानायक और योद्धा था। इस विजय से भारत मे बाबर को मुग़ल साम्राज्य की वास्तविक स्थापना मे सफलता मिली . ..

पानीपत के पहले युद्ध मे बाबर की सफलता और दिल्ली में इब्राहीम लोदी के पतन के साथ राजपूतो ने सोचा कि यह सही समय है, जब वे अपनी खोयी प्रतिष्ठा पा सकते हैं। राजपूतो के पुनर्जागरण के नेता राणा संग्राम सिह (राणा

सांगा) को बाबर के साथ हुए समझौते के अनुसार आगरा की ओर बढ़ना था पर उसने अपने सलाहकारों की राय के कारण वैसा नहीं किया। इसकी अपेक्षा सांगा ने आगरा के दक्षिण में दो सौ गांवों पर अधिकार करके उस क्षेत्र में अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली। दिल्ली में बाबर के अधीन स्थापित नयी मुग़ल-शक्ति से वे कोई समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। जब महमूद लोदी पानीपत के प्रथम युद्ध से बच आने के बाद 10,000 सैनिकों के साथ राणा सांगा के पास आया तो उसने लोदी को अपना सहयोगी बना लिया। बाबर को पराजित करने के लिए राणा ने अधीनस्थ राजाओं और मित्रों को सहयोग के लिए लिखा। कितने ही राजा और शासक अपनी-अपनी सैनिक-टुकड़ियों के साथ राणा से आ मिले। इस तरह राणा के नेतृत्व में अफगान सरदार हसन खां मेवाती और महमूद लोदी के सैन्य-सहयोग से मुगल बादशाह बाबर और राजपूताना शक्ति के बीच यह युद्ध छिड़ा। राणा सांगा के इस नेतृत्व में विशाल सेना को देखकर बाबर की छोटी सेना भयभीत हो उठी। बाबर को भी घबराहट हुई लेकिन हिम्मत बांधते हुए उसने सैनिकों को कुरान-शरीफ की कसम दिलायी।

युद्ध का प्रारम्भ

16 मार्च, 1527 को सवेरे लगभग नो बजे खानवा में युद्ध आरम्भ हुआ। मुग़लों के दल को दायीं ओर से खदेड़ने के लिए राणा सांगा ने अपने बायें पक्ष को आक्रमण करने की आज्ञा दी। बाबर के दायें पक्ष पर तैनात तुलुगमा पर ऐसा प्रहार हुआ कि वह तितर-बितर होने लगा किन्तु बाबर ने चिनतैमूर को उनकी सहायता के लिए भेजा। उसने राजपूतों के बायें पक्ष पर आक्रमण किया और मुग़ल सैनिक उनकी टुकड़ियों में खलबली पैदा करते हुए भीतर घुस गये। इसी समय बाबर ने अपने सहायक मुस्तफा को खुले मैदान में सिपाहियों को बढ़ाने तथा तोपों से गोले बरसाने का हुक्म दिया। तोपखाने ने अपना काम ऐसे संतोषजनक ढंग से किया कि मुगलों का साहस सजीव हो उठा।

मुग़ल तोपखाने द्वारा भयंकर आग बरसाने पर भी वीर राजपूतों ने निरंतर आक्रमणों से बाबर के सैनिकों को पस्त कर दिया था। राजपूतों के भीतर विजय-श्री तरंगायित हो रही थी। तभी एक कुशल सेनापति की सूझ-बूझ से बाबर ने अपने चुनींदा घुड़सवारों के दल को मध्य से लेकर शत्रु के दलों पर प्रहार करने के लिए छोड़ दिया। आक्रमण की यह चाल सफल सिद्ध हुई।

तोपों की अग्नि-वर्षा तथा अकस्मात् घुड़सवार-सेना के प्रहार से हलचल मच गयी। भयंकर गोलाबारी का भी ध्यान न करते हुए राणा के निर्भीक सैनिकों ने बाबर की सेना के दायें और बायें पक्षों पर वार किया। अंतिम क्षणों का यह प्रहार इतना भयंकर था कि मुगल अपने घेरे डालने की स्थिति से हट कर लगभग उस स्थान पर आ पहुंचे, जहां स्वयं बाबर खड़ा था। अन्ततः मृत्यु से भी न डरने वाले राजपूतों के लिए मुग़लों का तोपखाना अभिशाप सिद्ध हुआ। वे उसका अधिक

समय तक सामना न कर सके और उनका साहस टूटने लगा। ऐसी परिस्थिति में बाबर ने अपने दोनों पक्षों को दूसरा प्रहार करने का हुक्म दिया। राजपूत बिखर गये। बाबर युद्ध में विजयी रहा।

परिणाम

भारत के इतिहास में लगातार दस घंटे तक जारी रहने वाला यह अत्यन्त स्मरणीय युद्धों में से एक है। राजपूतों का शौर्य युद्ध की विकसित तकनीक की अनभिज्ञता के कारण बेमानी होकर रह गया, जिससे देश में मुगल साम्राज्य की नींव और पुख्ता हुई। राणा सांगा स्वयं घायल हुए। हसन खां मेवाती और अन्य कई सरदार वीरगति को प्राप्त हुए। पराजित सेना को क्षत-विक्षत कर दिया गया।

इस युद्ध के राजनैतिक परिणाम भी महत्त्वपूर्ण रहे। मुग़ल साम्राज्य को मिटाने की राजपूतों की आकांक्षा पूर्ण रूप से समाप्त हो गयी। इसके बाद राजस्थान के शासकों ने उत्तरी भारत में हिन्दू राज्य पुनः स्थापित करने का सम्मिलित प्रयत्न कभी नहीं किया। काबुल लौटने की अपेक्षा बाबर ने भारत में ही स्थायी रूप से बसने का विचार बना लिया।

बाबर की विजय में उन्हीं तोपों और 'मैचलॉक' (तोड़ेदार बंदूक) ने अहम् भूमिका निभायी, जिनकी मदद से उसने पानीपत की पहली लड़ाई (1526) जीती थी।

रायचूर का युद्ध
(War of Raichur)

सन् 1520, स्थान रायचूर

16वीं शताब्दी में विजयनगर साम्राज्य दक्षिण भारत का सबसे अधिक वैभवशाली और शक्तिशाली हिन्दू साम्राज्य था। उसके पड़ोस में मुसलमानों का बहमनी राज्य था। कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के दोआब पर स्थित रायचूर के दुर्ग को लेकर इन दोनों में परस्पर तनाव और विवाद चलता रहता था। 1509 में जब कृष्णदेव राय विजयनगर का शासक बना तो उसने रायचूर दुर्ग को पुनः प्राप्त करने की सोची, जिसे कुछ समय पूर्व बीजापुर के सुलतान इस्माइल आदिलशाह ने विजयनगर से छीन लिया था। यद्यपि विजयनगर ने दुर्ग पर पुनः अधिकार कर लिया किन्तु इस युद्ध में उसकी शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गयी और कालांतर में दक्कन सल्तनतों ने मिलकर इसे ध्वस्त कर दिया .

भारतीय इतिहास में विजयनगर राज्य अत्यन्त उल्लेखनीय रहा है। 1336 में हरिहर तथा बुक्क नामक दो हिन्दू भाइयों ने वैदिक रीति से राज्याभिषेक सम्पन्न कर दक्षिण भारत में कृष्णा नदी की सहायक नदी तुंगभद्रा के किनारे पर

इस राज्य की स्थापना की। इस राज्य पर चार विभिन्न वंशो ने शासन किया— संगम वंश, सालुव वंश, तुलुव वंश तथा आरवीडु वंश।

हरिहर तथा बुक्क संगम नामक व्यक्ति के पुत्र थे, अतः उन्होने सम्राट संगम के नाम पर शासन चलाया। 1343 मे हरिहर की मृत्यु हो गई और शासन पर उसके बड़े भाई बुक्क का अधिकार हो गया। इसी वंश के तीसरे प्रतापी सम्राट हरिहर द्वितीय ने विजयनगर को दक्षिण का एक विस्तृत, शक्तिशाली और सुदृढ़ साम्राज्य बनाया।

1485 से 1490 तक सालुव वंश के संस्थापक नरसिह ने शासन किया, जिसने कालांतर में शक्ति क्षीण हो जाने पर अपने मंत्री नरस नायक को विजयनगर का संरक्षण सौंप दिया। नरस नायक ने तुलुव वंश की स्थापना की। विजयनगर साम्राज्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध शासक कृष्णदेव राय तुलुव वंश का ही था, जिसने 1509-1539 तक शासन किया। रायचूर का युद्ध उसी के शासन-काल में लड़ा गया।

विजयनगर साम्राज्य के पड़ोस मे ही मुसलमानों का वहमनी राज्य था। इन दोनों में रायचूर दुर्ग को लेकर सदा विवाद चलता रहता था क्योंकि कृष्णा व तुंगभद्रा नदियों के दोआब पर स्थित यह दुर्ग सामरिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। दुर्ग के आधिपत्य को लेकर दोनो साम्राज्यों में कई युद्ध भी हुए थे। यह अलग बात है कि विजयनगर को कई युद्धो में पराजित होना पड़ा किन्तु वहमनी के मुसलमान उसके शौर्य को पूरी तरह कुचल नही सके।

कृष्णदेव राय के गद्दी पर बैठते ही विजयनगर साम्राज्य को एक कुशल और महान प्रतापी शासक मिला। उसने शीघ्र ही दक्षिण के एक बड़े भू-भाग पर अधिकार कर लिया। अब उसके सामने एक मुख्य उद्देश्य था,—वीजापुर राज्य के सुलतान इस्माइल आदिलशाह से रायचूर दुर्ग को पुनः प्राप्त करना, क्योंकि कुछ समय पूर्व हुए युद्ध में आदिलशाह ने इस दुर्ग पर अधिकार कर लिया था। फलतः 1520 मे राय एक विशाल सेना सहित रायचूर दोआव के लिए चल दिया।

युद्ध का प्रारम्भ

ऐतिहासिक साक्ष्यो के अनुसार विजयनगर की सेना ने 11 सेनापतियों के नेतृत्व मे प्रस्थान किया। हर सेनापति के नेतृत्व में पैदल सेना, धनुर्धारी, बंदूकची, घुड़सवार, हाथी, आदि विशाल संख्या में थे। पूरी तरह से सुसज्जित विजयनगर सेना ने रायचूर के निकट मल्लियाबाद मे अपना पड़ाव डाला। पड़ाव डाल लेने के वाद कृष्णदेव राय ने रायचूर का घेरा डालने की योजना तैयार की। तुंगभद्रा और कृष्णा नदियों के लगभग 40 कि.मी. चौड़े दोआव के बीचोबीच स्थित इस नगर के चारों ओर पक्की चिनाई की तीन सुदृढ़ दीवारे थी, जिन्हें पीछे से मिट्टी के अंवार लगाकर और भी सुदृढ़ कर लिया गया था। आसपास विलकुल वृक्षहीन मैदान था।

दुर्ग मे सभी सुविधाएं जुटा ली गयी थी। वहां 8,000 सैनिक, 400 घुड़सवार और 20 हाथी दुर्ग की रक्षा के लिए तैनात थे।

रायचूर का तोपखाना भी वहुत सुदृढ़ था, जिसमे 200 वडी तोपे तथा अन्य छोटी तोपे थी। प्राचीरो की वुर्जियो के वीच सटी ये तोपे नीचे मैदान मे जूझ रही शत्रु-सेनाओ की धज्जिया उडाने मे सक्षम थी। इसके अतिरिक्त 30 वड़ी-वडी गुलेलो (Catapults) का भी प्रवध था। दुर्ग पर केवल पूर्व की ओर से ही आक्रमण किया जा सकता था, क्योकि अन्य छोरो पर वृत्ताकार चट्टानो के कारण दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था।

इन्ही परिस्थितियो मे कृष्णदेव राय को अन्ततः दुर्ग पर आक्रमण करने और नगर-प्रवेश करने का आदेश देना पड़ा [illegible]

[illegible]

लगत। फिर भी उन्हे पीछे न हट कर इन परिस्थितियों से जूझना था।

एक दिन प्रात. कृष्णदेव राय ने अपनी सेना के एक भाग को शत्रु-सेना पर सीधा आक्रमण करने का आदेश दिया। आक्रमण इतने जोश तथा फुर्ती से किया गया था कि वीजापुर की सेना को शीघ्र ही खाइयो मे शरण लेनी पड़ी परन्तु तभी तोपखाने से वरसती गोलो की आग ने विजयनगर के सैनिको को भागने के लिए विवश कर दिया।

लगता था वीजापुर की सेना शीघ्र ही विजयनगर की सेना को पूरी तरह से दवोच लेगी। पीछे हटते सैनिको को देखकर राय क्रोधित हो उठा। अतः उसने एक अन्य सैनिक टुकड़ी को पीछे [illegible]
आदेश दिया। रणक्षेत्र से भागते [illegible]
जाने लगा तो वे पुनः जूझने के लिए अग्रसर होने लगे। अब तक आदिलशाह की सेना विखर चुकी थी। इस अप्रत्याशित आक्रमण से उसका साहस पस्त हो गया। वीजापुर का शासक पूरी तरह पराजित हो चुका था।

परिणाम

एक वार फिर विजयनगर ने रायचूर के महत्त्वपूर्ण दुर्ग पर अपना आधिपत्य जमा लिया किन्तु उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न और क्षीण हो गयी। 16वी शताब्दी के अन्त तक पहुचते बहमनी राज्य विखडित होकर दक्कन की पांच सल्तनतों मे वंट गया—अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा, वरार और विदार। कृष्णदेव राय के वाद विजयनगर के कमजोर शासको को इन सल्तनतो का विरोध झेलना पडा। परिणामस्वरूप 1565 मे तलिकोट के युद्ध मे मुस्लिम राज्यो ने आपस मे मिलकर विजयनगर पर आक्रमण कर उसे पूर्णतः ध्वस्त कर दिया।

चित्तौड़ की लड़ाई
(Invasion of Chittor)

काल - 1303, स्थान : चित्तौड़ (राजस्थान)

सुलतान अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) सिकंदर की तरह विश्व-विजेता बनने के सपने देखा करता था, इसीलिए दिल्ली के कोतवाल अलाउल्मुल्क के यह समझाने पर कि पहले भारत के सभी प्रदेशों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, उसने एक के बाद एक, कई राज्यों को पराजित कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। राजपूतों पर विजय पाने के सिलसिले में उसने पहले गुजरात पर (1297), फिर रणथंभौर पर (1299) और तब मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। कहते हैं कि मेवाड़ के राणा रतन सिंह की रूपवती रानी पद्मिनी पर मोहित होकर उसने यह आक्रमण किया था....

दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के बाद अलाउद्दीन खिलजी मे महत्त्वाकांक्षा जागी कि सिकन्दर की तरह वह भी विश्व-विजेता बने। इसीलिए उसने अपने पडोसी हिन्दू राज्यों पर आक्रमण करने से पहले किसी उचित कारण या बहाने की प्रतीक्षा तक करना भी आवश्यक नहीं समझा। राज्य-विस्तार के इसी उद्देश्य से1303के प्रारम्भ मे अलाउद्दीन ने चित्तौड (मेवाड) को जीतने का संकल्प किया और 28 जनवरी को दिल्ली से चल कर उस पर घेरा डाल दिया।

युद्ध का प्रारम्भ

कहा जाता है कि युद्ध का मुख्य उद्देश्य राणा रतनसिंह की अनुपम सुन्दरी रानी पद्मिनी को प्राप्त करना था लेकिन इतिहास इस तथ्य को उस आक्रमण का
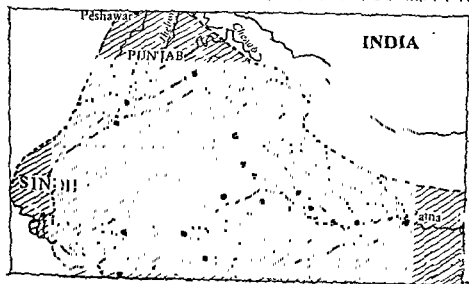
दुर्ग मे सभी सुविधाएं जुटा ली गयी थी। वहां 8,000 सैनिक, 400 घुडसवार और 20 हाथी दुर्ग की रक्षा के लिए तैनात थे।

रायचूर का तोपखाना भी बहुत सुदृढ़ था, जिसमे 200 बड़ी तोपें तथा अन्य छोटी तोपे थी। प्राचीरों की बुर्जियों के बीच सटी ये तोपें नीचे मैदान में जूझ रही शत्रु-सेनाओ की धज्जियां उडाने में सक्षम थी। इसके अतिरिक्त 30 बड़ी-बड़ी गुलेलो (Catapults) का भी प्रबंध था। दुर्ग पर केवल पूर्व की ओर से ही आक्रमण किया जा सकता था, क्योंकि अन्य छोरों पर वृत्ताकार चट्टानों के कारण दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था।

इन्हीं परिस्थितियों में कृष्णदेव राय को अन्ततः दुर्ग पर आक्रमण करने और नगर-प्रवेश करने का आदेश देना पडा परन्तु राय की सेना के लिए नगर की खाई तक पहुचना कठिन हो गया। खाई के निकट पहुचते ही तोपें आग उगलने लगती, गुलेलें पत्थर बरसाने लगती और बुर्जियो से छूटे तीर सैनिकों को धराशायी करने लगते। फिर भी उन्हें पीछे न हट कर इन परिस्थितियो से जूझना था।

एक दिन प्रातः कृष्णदेव राय ने अपनी सेना के एक भाग को शत्रु-सेना पर सीधा आक्रमण करने का आदेश दिया। आक्रमण इतने जोश तथा फुर्ती से किया गया था कि बीजापुर की सेना को शीघ्र ही खाइयो में शरण लेनी पड़ी परन्तु तभी तोपखाने से बरसती गोलों की आग ने विजयनगर के सैनिकों को भागने के लिए विवश कर दिया।

लगता था बीजापुर की सेना शीघ्र ही विजयनगर की सेना को पूरी तरह से दबोच लेगी। पीछे हटते सैनिकों को देखकर राय क्रोधित हो उठा। अतः उसने एक अन्य सैनिक टुकडी को पीछे लौटते सैनिकों का वध करते हुए आगे बढने का आदेश दिया। रणक्षेत्र से भागते सैनिकों का जब अपने ही साथियों द्वारा वध किया जाने लगा तो वे पुनः जूझने के लिए अग्रसर होने लगे। अब तक आदिलशाह की सेना बिखर चुकी थी। इस अप्रत्याशित आक्रमण से उसका साहस पस्त हो गया। बीजापुर का शासक पूरी तरह पराजित हो चुका था।

परिणाम

एक बार फिर विजयनगर ने रायचूर के महत्त्वपूर्ण दुर्ग पर अपना आधिपत्य जमा लिया किन्तु उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न और क्षीण हो गयी। 16वी शताब्दी के अन्त तक पहुचते बहमनी राज्य विखंडित होकर दक्कन की पांच सल्तनतों में बंट गया—अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा, बरार और बिदार। कृष्णदेव राय के बाद विजयनगर के कमजोर शासकों को इन सल्तनतों का विरोध झेलना पड़ा। परिणामस्वरूप 1565 मे तलिकोट के युद्ध मे मुस्लिम राज्यों ने आपस मे मिलकर विजयनगर पर आक्रमण कर उसे पूर्णतः ध्वस्त कर दिया।

चित्तौड़ की लड़ाई
(Invasion of Chittor)

काल : 1303; स्थान · चित्तौड़ (राजस्थान)

सुलतान अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) सिकंदर की तरह विश्व-विजेता बनने के सपने देखा करता था, इसीलिए दिल्ली के कोतवाल अलाउल्मुल्क के यह समझाने पर कि पहले भारत के सभी प्रदेशों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, उसने एक के बाद एक, कई राज्यो को पराजित कर अपने साम्राज्य में मिला लिया। राजपूतो पर विजय पाने के सिलसिले में उसने पहले गुजरात पर (1297), फिर रणथंभौर पर (1299) और तब मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। कहते हैं कि मेवाड़ के राणा रतन सिंह की रूपवती रानी पद्मिनी पर मोहित होकर उसने यह आक्रमण किया था ...

दिल्ली के सिहासन पर बैठने के बाद अलाउद्दीन खिलजी में महत्त्वाकांक्षा जागी कि सिकन्दर की तरह वह भी विश्व-विजेता बने। इसीलिए उसने अपने पडोसी हिन्दू राज्यो पर आक्रमण करने से पहले किसी उचित कारण या वहाने की प्रतीक्षा तक करना भी आवश्यक नही समझा। राज्य-विस्तार के इसी उद्देश्य से1303के प्रारम्भ मे अलाउद्दीन ने चित्तौड (मेवाड) को जीतने का संकल्प किया और 28 जनवरी को दिल्ली से चल कर उस पर घेरा डाल दिया।

युद्ध का प्रारम्भ

कहा जाता है कि युद्ध का मुख्य उद्देश्य राणा रतनसिंह की अनुपम सुन्दरी रानी पद्मिनी को प्राप्त करना था लेकिन इतिहास इस तथ्य को उस आक्रमण का

प्रमुख कारण नही मानता। वास्तव मे चित्तौड़ की विजय अलाउद्दीन के विजय-अभियान का एक आवश्यक अंग था। अलाउद्दीन ने किले को घेर कर निकटवर्ती चित्तौडी नामक पहाड़ी पर अपना सफेद शामियाना गाड़ दिया किन्तु किले को हासिल करने के उसके सारे प्रयत्न विफल रहे और घेरा आठ महीने तक चलता रहा। राजपूतों ने उसका इतना जबरदस्त प्रतिरोध किया कि शत्रुओं को भी उनकी प्रशसा करनी पडी किन्तु अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध लगातार युद्ध जारी रखना असभव था। अतः अगस्त, 1303 मे राणा रतन सिह ने हथियार डाल दिये। उसके बावजूद अलाउद्दीन ने राजपूतों पर अत्याचार किये।

पद्मिनी की कहानी

कहा जाता है कि जब पद्मिनी को प्राप्त करने की अपनी योजना मे अलाउद्दीन को सफलता नही मिली तो वह घेरा उठा कर लौटने के लिए राजी हो गया किन्तु शर्त यह थी कि राणा रतन सिह एक दर्पण मे उसे पद्मिनी के सुन्दर मुख का प्रतिबिंब दिखा दे। प्रतिबिंब दिखाने के बाद जब राणा किले के बाहर सुलतान को उसके खेमे तक पहुचाने गया, तो राणा को धोखे से गिरफ्तार कर लिया गया। पद्मिनी ने बडी चतुराई से अपने पति को शत्रुओं के चंगुल से मुक्त कराया। यह महसूस करके कि अलाउद्दीन से लडाई मे जीतना असभव है, पद्मिनी समेत हजारो राजपूत महिलाओ ने मुसलमानो से अपनी लाज बचाने के लिए आग मे जल कर (जोहर) प्राण त्याग दिये।

युद्ध के बाद विजयी सुलतान को चित्तौड़ सुनसान, निर्जीव और ध्वस्त रूप मे प्राप्त हुआ। मुसलमान शासक अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का नाम खिजराबाद रखा और अपने पुत्र खिज्र खां को उसका शासक नियुक्त करके दिल्ली वापस लौट आया।

परिणाम

युद्ध के बाद अलाउद्दीन का पूरे उत्तरी भारत पर अधिकार हो गया किन्तु राजपूतों ने नये शासक को निरतर कष्ट पहुचाया। इसलिए खिलजी शासक अधिक समय तक चित्तौड पर अधिकार न रख सके। 1311 मे खिज्र खां ने अपना पद त्याग दिया और अलाउद्दीन ने बाध्य होकर अपने मित्र मालदेव को उसके स्थान पर नियुक्त किया। उसे आशा थी कि मालदेव विद्रोहियो पर नियत्रण रख सकेगा और दिल्ली को कर भिजवाता रहेगा परन्तु अलाउद्दीन की मृत्यु (1316) के बाद शीघ्र ही गुहिला राजपूतों की एक छोटी शाखा के प्रमुख रणथंभौर के राणा हमीर ने मालदेव को मार भगाया और अपने पूर्वजो के राज्य और उसकी राजधानी चित्तौड पर पुनः अधिकार कर लिया।

तरायन के दो युद्ध
(Two Battles of Tarain)

काल : 1191-1192; स्थान : तरायन (थानेश्वर के निकट वर्तमान तरावड़ी कस्बा)

भारत के इतिहास मे तरायन के दोनों युद्धो का निर्णायक महत्त्व है। गजनी के आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी ने 1192 के तरायन के द्वितीय युद्ध में दिल्ली-अजमेर के अंतिम हिन्दू (राजपूत) शासक पृथ्वीराज चौहान को पराजित करके उत्तरी भारत मे मुस्लिम साम्राज्य की नींव डाल दी। इन्हीं युद्धो के बाद कन्नौज के राजा जयचंद को भारतीय इतिहास मे 'देश के गद्दार' के रूप मे याद किया जाने लगा क्योंकि उसने गोरी के साथ हुए इस युद्ध में पृथ्वीराज चौहान का साथ नहीं दिया था। इस प्रकार, हिन्दू राजाओं की आपसी फूट के कारण मुसलमान आक्रमणकारियो के लम्बे शासन का आरम्भ हुआ....

जब 1173 मे मुहम्मद गोरी (वास्तविक नाम—शहाबुद्दीन मुइजुद्दीन मुहम्मद बिनसाम) गजनी का सूबेदार बना तो अपने धन और प्रभाव मे वृद्धि के लिए उसने साम्राज्य-विस्तार की योजना बनायी। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने भारत पर पहला आक्रमण 1175 में किया। मुलतान के इस्माइली नास्तिकों को कुचलने के बाद 1178 मे उसने गुजरात पर असफल आक्रमण किया। फिर भी एक साल बाद उसे पेशावर पर कब्जा करके 1181 में स्यालकोट मे किला बनवाने में

सफलता मिली। जम्मू के तत्कालीन राजा विजयदेव की सहायता से उसने पजाव मे गजनवियों का शासन समाप्त करके लाहौर भी हथिया लिया। इसके साथ ही उत्तरी भारत में आगे बढ़ने का उसका रास्ता खुल गया किन्तु अव उसे राजपूतो से मुकावला करना था क्योंकि पड़ोस में दिल्ली-अजमेर मे पृथ्वीराज चौहान का शक्तिशाली शासन था।

देश की उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं तथा भारत के 'सिंहद्वार' की रक्षा के लिए चौहानों ने अपने राज्य के सीमात नगरों की सुदृढ़ किलेवंदी कर ली। मुहम्मद गोरी ने पहला आक्रमणं भटिंडा पर किया और 1189 में उसे घेर लिया। ऐतिहासिक वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि पृथ्वीराज चौहान तैयार नहीं था और आक्रमण भी धोखे से किया गया था। अतः नगर की रक्षक-सेना को पराजित होकर हथियार डालने पडे।

किले की रक्षा के लिए मुहम्मद गोरी ने जियाउद्दीन के सेनापतित्व मे सैनिक नियुक्त कर दिये किन्तु जैसे ही सुलतान वापस जाने को तैयार हुआ, पृथ्वीराज चौहान किले को छीनने के उद्देश्य से सेना लेकर पहुंच गया। चौहान नरेश का सामना करने के लिए मुहम्मद गोरी को फिर मुड़ना पड़ा। 1191 में थानेश्वर के पास तरायन गाव के मैदान मे दोनों सेनाओ मे युद्ध हुआ। पृथ्वीराज चौहान के सैनिकों ने सुलतान की सेना पर भयंकर प्रहार किये और उसे बुरी तरह पराजित कर दिया। स्वय मुहम्मद गोरी के शरीर मे गहरे घाव लगे और उसका एक सेनाधिकारी उसे घोडे पर बिठाकर युद्धक्षेत्र से भगा ले गया।

दूसरा युद्ध (1192)

भारतीय राजाओं के हाथ मुहम्मद गोरी की यह दूसरी पराजय थी। भीमदेव द्वितीय के हाथो हुई पराजय से अधिक उसे यह पराजय अपमानजनक लगी। गजनी लौटने के वाद इस पराजय का बदला लेने के लिए उसने भीषण तैयारियां की और 1,20,000 चुनी हुई अश्वारोही सेना लेकर भारत की ओर चल पड़ा। लाहोर पहुच कर उसने किवाम-उल-मुल्क नामक अपने दूत को पृथ्वीराज के पास भेजकर पराधीनता स्वीकार करने के लिए कहा किन्तु चौहान नरेश ने इंकार कर दिया। वह गोरी की चाल समझता था। इसलिए उसने तुरन्त अन्य राजपूत राजाओं को भी सहायता के लिए आमन्त्रित किया। किन्तु कन्नौज के राजपूत शासक जयचंद ने व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण चौहान का साथ देने से इंकार कर दिया। यही नहीं, गोरी से मिलकर उसने चौहान की रणनीति का भी रहस्य खोल दिया।

जितनी भी सेनाएं मदद मे आ सकी, उन सबको लेकर पृथ्वीराज ने तरायन के ही युद्धक्षेत्र मे आक्रमणकारी का पुनः मुकावला किया। गोरी ने अपनी सेना को पांच भागो मे विभाजित किया। चार भागो को उसने राजपूतो पर चारो ओर से

आक्रमण करने को भेजा और एक को सुरक्षित रखा। राजपूतों ने अत्यन्त वीरता से युद्ध किया किन्तु गोरी की युद्धनीति के कारण जब वे चारों ओर के प्रहारों को झेलते हुए थक गये, तब शाम के समय गोरी ने अपनी सुरक्षित सैनिक-टुकड़ियों को उन पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस अंतिम प्रहार को राजपूत योद्धा झेल न सके। पृथ्वीराज का सेनापति खांडेराव, जिसने तरायन के प्रथम युद्ध में मुहम्मद गोरी को पराजित किया था, मारा गया। पृथ्वीराज का उत्साह भी भंग हो गया। वह अपने हाथी को छोडकर एक घोड़े पर सवार हुआ और युद्धक्षेत्र से भाग निकला। बाद में एक गांव के पास पकड कर उसे मौत के घाट उतार दिया गया। मुहम्मद गोरी पूर्णरूप से विजयी हुआ।

पृथ्वीराज की बहादुरी का वर्णन करने वाली कथाओं में बताया गया है कि गोरी ने पृथ्वीराज की हत्या नहीं करायी बल्कि उसे अंधा बना दिया। बाद में, शब्दवेधी बाण चलाकर पृथ्वीराज ने गोरी को मार डाला किन्तु इन बातों का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता।

परिणाम

तरायन का दूसरा युद्ध एक निर्णायक युद्ध सिद्ध हुआ और इससे मुहम्मद गोरी का भारत-विजय का स्वप्न पूरा हुआ। उसने चौहानों की तत्कालीन गौरवशाली सैनिक-शक्ति को पूर्णतः भंग कर दिया। तरायन की विजय के बाद मुहम्मद गोरी ने शीघ्र ही हासी, कुहराम, सरस्वती, आदि सैनिक महत्त्व के स्थानों पर अधिकार कर लिया और उनकी रक्षा के लिए तुर्क सैनिक नियुक्त कर दिये।

मुहम्मद गोरी ने भारत में जीते हुए प्रदेशों पर शासन करने के लिए कुतुबुद्दीन ऐबक को नियुक्त किया। ऐबक एक गुलाम था जो अपनी योग्यता व पराक्रम से गोरी की सेना में उच्च स्थान पर पहुचा था। गोरी के वापस गजनी लौटने के बाद ऐबक ने कई और प्रदेश जीते जिनमें बिहार व बगाल मुख्य हैं। 1206 मे मुहम्मद गोरी की मृत्यु हो जाने पर ऐबक ने अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। इस तरह भारत मे 'गुलाम वंश' का शासन शुरू हुआ।

कलिंग युद्ध
(Kalinga War)

काल : 261 ई पू , स्थान : कलिग (वर्तमान उड़ीसा)

मोर्य सम्राट अशोक बौद्ध धर्म को स्वीकार कर अहिंसा, शांति तथा मानव-सेवा के सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए जितना प्रसिद्ध है, उतना ही अपने युद्धों के लिए भी। उसने 37 वर्षों के अपने शासन-काल म केवल दो युद्ध किये—तक्षशिला के विद्रोहियों को कुचलने के लिए (गद्दी पर बैठने के दो वर्ष बाद) और कलिंग पर विजय पाने के लिए (गद्दी पर बैठने के आठ वर्ष बाद)। कलिंग युद्ध उसके जीवन में महान परिवर्तन लाने वाला सिद्ध हुआ और सदा के लिए हिंसा से उसका विश्वास उठ गया। उसने अपने जीवनकाल मे फिर कभी किसी भी राज्य या प्रदेश पर आक्रमण नहीं किया। सम्राट रहते हुए भी अशोक बौद्ध धर्म का प्रचारक बन गया.. ..

जब मगध साम्राज्य की गद्दी पर चद्रगुप्त मोर्य का पोता अशोक अपने पिता बिदसार की मृत्यु के बाद बैठा तो अपने पूर्वजो की भाति ही उसने देश के अविजित क्षेत्रो पर अधिकार करने की योजना बनायी। गद्दी पर बैठने के बारह वर्ष बाद उसने कलिग को अधीनता स्वीकार करने का सदेश भेजा लेकिन कलिगराज ने इकार कर दिया। फलत एक बडी सेना लेकर उसने आक्रमण कर दिया।

यह बात 261 ई पू की हे। कलिग के स्वतन्त्रता-प्रेमी लोगो ने अशोक की सेना का डट कर मुकाबला किया। सारा कलिग युद्धभूमि बन गया। कहते हैं इतने भयकर युद्धो के उदाहरण इतिहास मे कम ही मिलते हैं। कलिगराज ने स्वय सेना
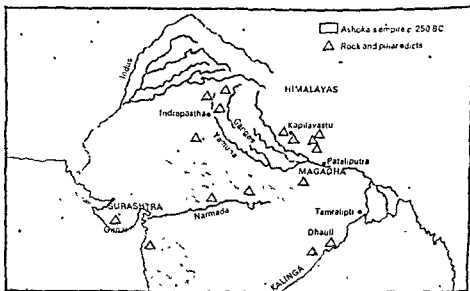
का नेतृत्व किया। पर कहा विशाल मगध साम्राज्य की असंख्य सेना और कहा एक छोटे से राज्य की सीमित शक्ति। अशोक की आशा के विपरीत कलिंगवासियो की वीरता के कारण कई बार विजयश्री अशोक के हाथ से छिनते-छिनते बची। कलिंग के सैनिक अन्त तक दृढता से प्रतिरोध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। अशोक विजयी हुआ।

इस युद्ध मे अपार धन-जन का विनाश हुआ। इस युद्ध से संबधित विवरण हमे अशोक के 13वें शिलालेख मे मिलता है। इतिहासकार कहते हैं कि कम से कम एक लाख कलिंगवासियो ने इसमे वीरगति प्राप्त की, डेढ़ लाख बंदी बनाये गये। लगभग इतने ही मगध-सैनिक भी हताहत हुए। कोई भी युवक पराधीन जीवन बिताने के लिए कलिग मे नही बचा था।

परिणाम

इतिहास मे यह अपनी तरह का एकमात्र युद्ध है जिसने अशोक जैसे युद्धप्रिय सम्राट को धर्मपरायण व्यक्ति बना दिया। युद्ध के बाद चारो ओर जहां तक दृष्टि जाती थी, मृतक सैनिको के शव, कठिनाई से सास लेते, कराहते घायल सैनिकों की करुण चीत्कारें, शवो पर मडराते गिद्धो, श्वानो और शृंगालों के समूह, प्रियजनों के वियोग से करुण विलाप करते अनाथ बालक, विधवाए अथवा अभिशप्त-सी आकृति लिये निराश वृद्ध दीख पडते थे।

यह सब देखकर कठोर हृदय सम्राट का मन आत्मग्लानि से भर गया। उसने अनुभव किया कि इतने लोगो का सुख छीन कर उसने जो विजय प्राप्त की है, वह तो पराजय से भी बुरी है। यही सम्राट अशोक के व्यक्तित्व का दूसरा जन्म हुआ। इतिहास उसी अशोक को आज श्रद्धा और सम्मान से याद करता है जिसका उदय कलिंग युद्ध के बाद हुआ। इस युद्ध के परिणाम को देखकर अशोक ने प्रण लिया—"मै साम्राज्य-विस्तार के लिए अब कभी शस्त्र ग्रहण नही करूगा। भविष्य में मेरी विजय-यात्रा 'शस्त्र-विजय' के लिए न होकर 'धर्म-विजय' के लिए होगी।"

युद्ध के रूप मे किये गये अत्याचारों और पापों का प्रायश्चित करने के लिए वह बौद्ध धर्म का उपासक बन गया। महात्मा बुद्ध के शिष्य आचार्य उपगुप्त से उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। सम्राट अशोक बौद्ध धर्म के सिद्धांतों से इतना प्रभावित हुआ कि उसने पूरी लग्न और निष्ठा से उसका प्रचार-प्रसार किया।

युद्ध की ज्वाला की भीषणता महसूस करके शाति का उपासक बन जाने वाले इस सम्राट के राज्य चिह्न 'अशोक चक्र' को अपना राष्ट्रीय चिह्न बनाकर स्वतन्त्र भारत ने उसके प्रति सम्मान व्यक्त किया है।

सैल्यूकस का भारत पर आक्रमण

(Seleucus's Invasion of India)

काल : 305 ई पू ,   स्थान : उत्तरी-पश्चिमी सीमा (पंजाब)

सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसका पूरा साम्राज्य उसके तीन प्रमुख सेनापतियों ने परस्पर बांट लिया था। सैल्यूकस भी उनमें एक था, जिसे एशिया के भाग मिले। पुरु-सिकन्दर युद्ध के समय जिस बंटे हुए भारत को उसने देखा था, उससे वह भारत विजय कर विश्व-विजेता बनने का स्वप्न देखने लगा किन्तु उसका यह स्वप्न इसलिए अधूरा रह गया क्योंकि तब तक मगध में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर दी थी......

सैल्यूकस यूनान सम्राट सिकन्दर के प्रमुख सेनापतियों में एक था। भारत से लौटते हुए जब सिकन्दर बेबिलॉन पहुंचा तो अत्यधिक ज्वर से पीड़ित था। वहीं 323 ई पू में 32 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गयी।

मृत्यु के बाद सिकन्दर के उत्तराधिकारी न होने के कारण उसके तीन प्रमुख सेनापतियों ने पूरे साम्राज्य को आपस में बांट लेना उचित समझा। इस तरह

सिकन्दर का साम्राज्य तीन भागों में बंट गया—यूनान, मिस्र और एशिया। पहले दो भागों पर क्रमशः टॉलेमी (Ptolemy) व एंटीगोनेस (Antigones) ने अधिकार कर लिया और एशिया के भाग तीसरे सेनापति सैल्यूकस (Seleucus) के हिस्से मे आये। उसकी सीमा सीरिया से लेकर यूफ्रेटीज (Euphrates) नदी तक थी। पंजाब और अफगानिस्तान के कुछ क्षेत्र भी उसके अधिकार मे थे। सिकन्दर के विश्व-विजय अभियान के दौरान भारत-आक्रमण के समय सैल्यूकस भी भारत आया था। उसने यहां की लूटपाट में सिकन्दर को सक्रिय सहयोग दिया था। चूंकि मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त ने भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर यूनानियों से उनके द्वारा विजित प्रदेशो को छुडवा लिया था, अतः सैल्यूकस पुनः इन क्षेत्रों को प्राप्त करना चाहता था।

सिकन्दर के लौटने के बाद 321 ई पू में मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ। उसने देश को एक सुदृढ शक्ति के रूप में संगठित किया। कौटिल्य जैसे चतुर, बुद्धिमान एव कूटनीतिज्ञ महामत्री के सहयोग से उसने एक *अजेय भारत की नींव रखी और यूनानियों को भारत भूमि से खदेड़ दिया।* पूर्व मे मगध से लेकर पश्चिम मे उत्तरी-पश्चिमी सीमा तक, जिसमें अफगानिस्तान भी सम्मिलित था और दक्षिण मे मैसूर तक उसके साम्राज्य का विस्तार हो चुका था। आपसी फूट, ईर्ष्या-द्वेष से दरके छोटे-छोटे राज्यों के देश भारत की परिकल्पना सैल्यूकस के मन में थी। इसलिए उसने भी सिकन्दर की तरह विश्व-विजेता बनने की खुशफहमी पाल ली किन्तु उसे पता न था कि उसका मुकाबला करने के लिए उससे कही अधिक शक्तिशाली भारत खडा था।

युद्ध और उसका परिणाम

परिणामस्वरूप सैल्यूकस ने 305 ई.पू. में भारत पर एक विशाल सेना के साथ आक्रमण कर दिया। भारतीय जवान सधे हुए थे और उनकी अश्व-रथ तथा

युद्ध की व्यूह-रचना का निरीक्षण करते चन्द्रगुप्त मौर्य

हाथियों की सेना सैल्यूकस की सेना को परास्त करने के लिए तैयार थी। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर एक भयंकर युद्ध हुआ। यूनानी वीर भारतीय सेना के सामने टिक नही सके। सैल्यूकस की सेना को चन्द्रगुप्त मौर्य की सेनाओं ने रौंद डाला और सैल्यूकस को बाध्य होकर घुटने टेकने पड़े। फलतः उसने चन्द्रगुप्त के समक्ष सन्धि का प्रस्ताव रखा। चन्द्रगुप्त मौर्य ने पराजित आक्रमणकारी के सामने अपनी शर्तें रखी जिन्हे सैल्यूकस को स्वीकार करना पड़ा। इस पराजय से सैल्यूकस को अपने प्रात हेरात, कधार, बिलोचिस्तान और काबुल की घाटी चन्द्रगुप्त मौर्य को सौप देने पड़े। बदले मे सैल्यूकस को 500 हाथी मिले। सैल्यूकस इन रणबांकुरे हाथियो का शौर्य युद्ध मे देख चुका था। बाद मे उसने दूसरे शत्रुओं के विरुद्ध हुए युद्धों मे इन वीर हाथियो का उपयोग किया।

सैल्यूकस ने अपनी पुत्री के साथ भारत-सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का वैवाहिक सबध स्थापित कर दिया। साथ ही सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार मे मेगस्थनीज (Megasthenes) नामक अपना राजदूत भी नियुक्त कर दिया। मेगस्थनीज ने मौर्य दरबार मे अपने अनुभवो को अपनी 'इण्डिका' नामक प्रसिद्ध पुस्तक मे लिखा।

भारी सख्या मे सैनिक व अस्त्र-शस्त्र होने के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त मौर्य की जीत का कारण यह भी था कि सिकन्दर के आक्रमण से भारतीयो को यूनानी युद्धकला का भी ज्ञान हो गया था। फिर चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने बाहुबल एव बुद्धि से भी इतने बडे साम्राज्य का निर्माण किया था। उसकी विशाल सेना सब प्रकार से सुसज्जित तथा रणकौशल से प्रशिक्षित थी।

सैल्यूकस और चन्द्रगुप्त मौर्य के इस युद्ध का विस्तार से वर्णन उपलब्ध नही है। यूनानी इतिहासकार भी युद्ध का केवल परिणाम बता कर चुप्पी साध गये। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि युद्ध के मोर्चे पर निःसदेह सैल्यूकस को करारी हार का सामना करना पडा था और उसका भारत-विजय का स्वप्न हमेशा के लिए खडित हो गया।

पुरु-सिकन्दर युद्ध
(Porus-Alexander War)

काल : 326 ई पू ,   स्थान : झेलम और चिनाव के बीच का प्रदेश

पह युद्ध यूनान संम्राट सिकन्दर की विश्व-विजेता बनने की महत्त्वाकांक्षा का युद्ध था। यूनान, ईरान और मिस्र को जीतने के बाद यह भारत पर अधिकार पाना चाहता था। भारत के अनेक शासकों ने उसकी पराधीनता स्वीकार भी कर ली थी किन्तु पंजाब के शक्तिशाली शासक पुरु ने सिकन्दर के आत्मसमर्पण के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और उसे युद्ध की चुनौती दी। सिकन्दर जीता जरूर, किन्तु पुरु और उसके सैनिकों की वीरता देखकर उसने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया......

प्राचीन भारतीय इतिहास मे पुरु-सिकन्दर युद्ध एक महत्त्वपूर्ण युद्ध है। यूनान के प्राचीन नगर-राज्य मकदूनिया के शासक फिलिप के पुत्र सिकन्दर ने 336 ई.पू. मे शासन-भार संभालते ही चारोनिया के युद्ध मे ईरान को पराजित कर दिया। दो वर्ष तक वह साम्राज्य के विद्रोह को दबाने मे लगा रहा। डैन्यूब नदी (River Danube) तक साम्राज्य-विस्तार के बाद उसके मन मे विश्व-विजय की महत्त्वाकांक्षा जागृत हुई। 334 ई. पू. में केवल 22 वर्ष की आयु मे ही उसने अपना विजय-अभियान प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम एशिया माइनर पर आक्रमण करने के बाद उसने ईरान पर भी अधिकार कर लिया। फिर मिस्र, वैबिलॉन, सूसा,
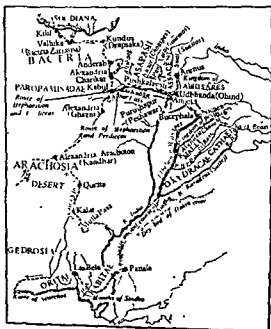
यूनान सम्राट सिकन्दर : विश्व-विजय का स्वप्न अधूरा रहा

पर्सिपोलिस, समरकंद और मध्य तुर्किस्तान होता सिकन्दर भारत की ओर बढ़ा।

फारस (ईरान) और अफगानिस्तान को जीत कर जैसे ही सिकन्दर ने भारत मे प्रवेश किया, तक्षशिला-नरेश आम्भीक (Ambhik, the king of Takshashila) ने उसका राजकीय स्वागत किया और बहुत सी भेट देकर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। तक्षशिला के राजा की इस निर्बलता का कारण यह था कि वह सिकन्दर की सहायता प्राप्त कर पुरु से अपनी शत्रुता का बदला लेना चाहता था।

युद्ध का प्रारंभ

जुलाई, 326 ई.पू. मे सिकन्दर अपनी विशाल सेना और तक्षशिला के राजा आम्भीक के 5,000 सैनिकों के साथ झेलम नदी की ओर बढ़ा। उस समय बाढ़ के कारण नदी चढ़ी हुई थी, जिसके दूसरी पार राजा पुरु (पोरस) अपनी विशाल सेना और लडाकू हाथियो के साथ उपस्थित था। पुरु की विशाल सेना और बाढ़ से उफनती नदी देखकर सिकन्दर ने अपनी सेना प्रतिदिन एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटानी शुरू कर दी, ताकि पुरु को मालूम न हो कि उसका इरादा क्या है! उसने सेना की कई टुकड़ियां सभी दिशाओं मे भेज दी ताकि पता लग सके कि नदी कहां-कहां से पार की जा सकती है।

नदी के तट पर शांत भाव से टहलते सैनिकों को देखकर पुरु भांप नहीं सका कि आक्रमण कब, कहां और कैसे होगा! फिर सिकन्दर ने घोषणा भी कर दी थी कि बाढ़ का पानी उतरने से पहले वह नदी पार नहीं करेगा।

इस प्रकार पुरु को धोखे में रखते हुए सिकन्दर एक तूफानी रात मे तीरंदाजों, घुड़सवारो और कुछ पैदल सैनिकों को लेकर अपने पड़ाव से 18 मील ऊपर नदी-तट पर पहुंचा। उस क्षेत्र में घनी झाड़ियां थीं, जिनकी आड़ में सैनिक नदी पार कर सकते थे। शेष सेना को उसने जनरल क्रोटेरस के नेतृत्व में कैंप में ही रहने दिया। सिकन्दर ने शीघ्र ही चमड़े के थैले घास से भरवाये, सारी नावें इकट्ठी कीं और नदी पार कर ली। सबसे पहले नदी के पार सिकन्दर ने पैर रखा। दूतों ने तत्काल पुरु को यह सूचना पहुंचाई। पुरु ने अपने पुत्र को 2000 सैनिकों और 120 रथों के साथ उसका प्रतिरोध करने भेजा, पर सिकन्दर के घुड़सवारों ने उसे और उसकी सेना को मुठभेड़ में मार डाला।

जब पुरु को मालूम हुआ कि सिकन्दर से हुई प्रथम मुठभेड़ में उसका पुत्र वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारा गया है, तब वह इस घटना पर पुत्र-शोक के साथ ही आश्चर्यचकित भी हुआ, क्योंकि वह देख रहा था कि सामने कैंप की सेना तो अभी नदी पार करने की तैयारी ही कर रही थी। कुछ हाथी और सैनिक उसने जनरल क्रोटेरस का सामना करने को छोड़ दिये और स्वयं एक विशाल सेना लेकर सिकन्दर का मुकाबला करने चल दिया।

पुरु की व्यूह-रचना और विशाल सेना को देखकर सिकन्दर ने 6,000 सैनिकों को मौके की प्रतीक्षा में छोड़ कर शेष 6,000 सैनिकों सहित पुरु की सेना के बायें भाग पर आक्रमण किया। बाणों की वर्षा करती दोनों सेनाएं आपस में भिड़ पडी। इसी अवसर पर सिकन्दर भी अपनी ताजादम सेना ले सहायता को आ खड़ा हुआ। बाये भाग को इस प्रकार उलझा देख पुरु की सेना का दायां भाग ज्यों ही पीछे की तरफ से सहायता के लिए चला, त्यों ही मौके की प्रतीक्षा मे खडे यूनानी सेना के शेष सवारो को लेकर कोइनस ने पीछे से आक्रमण कर दिया। इससे भारतीय सेना के दायें भाग को शत्रु का हमला रोकने के लिए पीछे मुड़ना पड़ा पर ढालू भूमि होने के कारण उनका व्यूह भंग हो गया। शत्रु-सेना से बचाव के लिए योद्धा भागकर हाथियों की आड़ मे जा खड़े हुए। यह दशा देख महावतों ने अपने हाथियों को आगे बढ़ाया। यद्यपि यूनानी सेना ने उन्हें रोकने के लिए बाणों की भयंकर वर्षा की, तथापि रणबांकुरे हाथियों ने शत्रु-सेना को पददलित करना शुरू कर दिया। उसी समय घुडसवार भी आगे बढ़कर उन पर टूट पड़े किन्तु स्थान की विषमता के कारण घुड़सवारो को फिर हाथियों के पीछे आना पड़ा। तभी यूनानी सेना ने संभलकर आक्रमण किया। दुर्भाग्यवश इस गड़बड मे हाथी भड़क गये और इधर-उधर दौड़ कर अपनी ही सेना को कुचलने लगे। निरंतर आठ पहर तक युद्ध का संचालन करते पुरु घायल होकर मूर्च्छित हो गये। खून से लथपथ, श्रम से थके

पुरु को जब सिकन्दर के सामने लाया गया तो विजेता सिकन्दर उसकी ऊंचाई को देखकर दंग रह गया। वीर योद्धा की तरह मस्तक उठाए देख सिकन्दर ने पूछा, "तुम्हारे साथ कैसा सुलूक किया जाये?"

"जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है," पुरु ने तत्काल उत्तर दिया।

सिकन्दर पुरु के इस वीरोचित उत्तर से अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसने अपने वैद्यों को आदेश दिया कि पुरु का इलाज किया जाये। पुरु के स्वस्थ होने पर सिकन्दर ने न केवल उसे अपना मित्र बना लिया बल्कि अपने द्वारा विजित राज्य तथा विस्तृत भू-क्षेत्र भी दे दिया।

परिणाम

इस युद्ध में यूनानियों की विजय हुई। वर्षों की निरंतर लड़ाई के बाद सिकन्दर के सैनिक न केवल युद्ध से उकता गये थे अपितु घर भी लौटना चाहते थे। दूसरी ओर भारत में सिकन्दर को पंजाब से आगे बढ़ने में कठोर प्रतिरोध का सामना करना पड़ा।

[illegible]

की महत्त्वाकांक्षा सिन्धु की लहरों में बहकर रह गयी।